मानस का

सामाजिक दर्शन

रामचरितमानस का
समाजशास्त्रीय अध्ययन

•

लेखक

बैजनाथसिंह

१९६३

भारत सेवक समाज के लिए
सस्ता साहित्य मण्डल द्वारा
प्रकाशित

मन्त्री, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली द्वा
भारत सेवक समाज, नई दिल्ली के लिए
प्रकाशित

पहली बार : १९६३
मूल्य
तीन रुपये

मुद्रक
हीरा आर्ट प्रेस,
दिल्ली-६

श्रद्धेय बाबा राघवदास की

पावन स्मृति में

जिन्होंने

विरक्त संन्यासी होते हुए भी समाज की अनेक समस्याओं का समाधान किया, मानस-संस्कृति को नवजीवन प्रदान किया और समाज-सेवा, शिक्षा-प्रचार, मानव-धर्म-प्रसार एवं भूदान का कार्य करते हुए

जीवनोत्सर्ग किया

प्रकाशकीय

गोस्वामी तुलसीदास-कृत 'रामचरितमानस' पर 'मण्डल' से कई पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। यह पुस्तक भी उसी शृंखला मे एक कड़ी जोडती है। इसमे बताया गया है कि 'रामचरितमानस' में वैयक्तिक, सामाजिक, सास्कृतिक एव राजनैतिक व्यवहार के लिए क्या आदर्श प्रस्तुत किये गए है और उनपर आचरण करके हम किस प्रकार राम-राज्य की स्थापना कर सकते है।

इस पुस्तक का सार्वजनिक महत्त्व है, कारण कि हम सब भारतीय समाज के नागरिक हैं और इस बात के इच्छुक है कि हमारे देश का नव-निर्माण उन सिद्धातो के आधार पर हो, जिनका बड़ा ही विशद वर्णन हमे रामायणकालीन समाज मे मिलता है।

हम आशा करते हैं, यह पुस्तक सभी क्षेत्रो मे, सभी वर्गों के पाठको द्वारा पढी जायगी।

—मंत्री

निवेदन

बचपन मे पूज्य पिताजी स्व० श्री अक्षयवरसिंहजी की गोद मे बैठकर रामचरितमानस की कुछ चोपाइयो और दोहो को कंठस्थ करने का सोभाग्य मिला। बाद में गाव की रामायण-मंडली के सस्वर गायन और पाठ में सम्मिलित होने पर मानस के प्रति रुचि बढी। उस समय पाठ के प्रति श्रद्धा थी, लेकिन उसका तत्त्व समझने की क्षमता नही थी। बहुत वर्ष बाद अग्रगामी विकास-योजना इटावा मे काम करते हुए मानस के प्रति सोई हुई भावना पुनः जागृत हो उठी। १९४८ के अक्तूबर मास में एक ग्राम में मैने देखा कि चौपाल पर टिमटिमाते दीपक के प्रकाश मे एक महाशय रामचरितमानस का सस्वर पाठ कर रहे हैं और दूसरे सज्जन उसकी टीका। श्रोताओ मे से कोई शंका करता, तो टीकाकार उसका समाधान कर देते। संयोग से जिस प्रसंग की चर्चा हो रही थी, वह ज्ञान-दीपक का प्रसंग था। गाव के लोगों के आग्रह पर मुझे मानस का पाठ करना पडा। बचपन का मानस का अभ्यास नया प्रकाश लेकर सामने आ गया और ज्ञान-दीपक ने मेरे मानस को नई प्रेरणा दी।

फिर तो मानस का पाठ और उसकी टीका करने का अवसर मुझे अनेक प्रशिक्षण-शिविरो में मिला। नीलोखेरी और बख्शी का तालाब से लेकर गाजीपुर और गोरखपुर के प्रशिक्षण-शिविरों व अनेक गांवों में सामूहिक कार्यक्रम के अवसर पर मानस के कुछ चुने हुए अशों को प्रस्तुत किया गया और शिक्षार्थियों तथा अंग्रेजी शिक्षा-प्राप्त उच्चाधिकारियों को भी आनंद मिला। कुछ आई० सी० एस० अधिकारियों के सामने भी सन् '५१ मे मानस-पाठ किया गया। सन् '५२ मे आचार्य विनोबा भावे के सामने बाबा राघवदासजी की कृपा से वैसा करने का अपूर्व अवसर मिला।

विश्व के महान् साहित्यिक ग्रंथों मे व्यवहार-शास्त्र के अनेक सिद्धांत प्रकारातर से पाये जाते हैं। रामायण, महाभारत, डिवाइन कॉमेडी, पैराडाइज़ लास्ट आदि ग्रंथों में, वर्णित विषय के साथ-साथ मानव-व्यवहार का उल्लेख भी पाया जाता है। आज के युग के व्यक्ति या समाज में तत्कालीन व्यक्ति या समाज से बहुत अतर है, फिर भी

मानव की शकाए, भावनाए और महत्त्वाकाक्षाए अपने मूल रूप मे बहुत-कुछ एक-सी हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में मानव-व्यवहार के तत्त्वो का विवेचन सूक्ष्म रूप से किया गया है। उसकी कहानी का आधार विस्तृत महाभारत-ग्रथ है, परतु गीता के विशेष भाग मे कहानी का अश केवल नाममात्र को ही है। रामचरितमानस महाभारत के समान अनेक कथाओ और उप-कथाओ से भरा हुआ है, जिनसे जीवन के प्रत्यक्ष उदाहरणो द्वारा जीवनोपयोगी सदेश मिलता है। साथ ही, राम-वाल्मीकि-सवाद, राम-भरत-सवाद, राम-अत्रि-सवाद, सीता-अनसूया-सवाद, राम-पुरवासी-सवाद और गरुड-कागभुशुडि-सवाद मे सूक्ष्म रूप से मानव-जीवन के सिद्धातो का विवेचन किया गया है। रामचरितमानस के सबध मे गोस्वामीजी की यह नम्रतापूर्ण उक्ति ही सत्य प्रमाणित होती है कि रामचरितमानस सचमुच अनेक पुराणो (कथाओ), वेदो और और शास्त्रो आदि का सारभूत ग्रथ है।

दर्शन-शास्त्रो और पुराणो आदि के अतिरिक्त कुछ और स्थानो से ली हुई बाते गोस्वामीजी के अपने अनुभव की देन है और उनसे मानस का गौरव और भी चमक उठता है। इसमे अनेक व्यक्तियो (भरत, लक्ष्मण, हनुमान, विभीषण, रावण, सीता, मदोदरी और तारा) के चरित्र वर्णित है। इसमे सेतुबध के लिए वानर-भालुओ की सामूहिक क्रिया का भी विवरण है। सत्सग के अनेक वर्णनो के उप-समूहो की गतिविधि का विवेचन मिलता है और अयोध्यापुर की रचना सामुदायिक सगठन का एक ज्वलत उदाहरण है। आज का नगर-नियोजन रामायण-काल के नगर-नियोजन से भिन्न भले ही हो, पर इतना निश्चित है कि उस युग मे भी गली, हाट, वीथी, बाजार, तडाग (पोखर और तालाब), चौक तथा बाग-बगीचो की विस्तृत व्यवस्था थी। मानस मे भरत-जैसे विनय-शील, उदार और त्यागी बधु, लक्ष्मण-जैसे साहसी और उग्र किंतु अनु-शासित अनुज, सीताजी-जैसी तपस्विनी सहचरी, हनुमान और अगद-जैसे पराक्रमी और साहसी अनुचर, विभीषण और सुग्रीव-जैसे अवसरवादी और रावण और मेघनाद-जैसे अभिमानी परतु वीर व्यक्तियो का विव-रण मिलता है। प्रत्येक ऋतु, प्रत्येक सामाजिक स्थिति, पारिवारिक सकट, मगल और अमगल—सभी घटनाओ से 'मानस' जीवन-दर्शन का विश्व-कोष बन गया है।

प्रस्तुत पुस्तिका मे हमने इसी ओर सकेत किया है। प्रत्येक चरित्र का विस्तृत चित्रण, प्रत्येक घटना की विशुद्ध व्याख्या और प्रत्येक

साहित्यिक और दार्शनिक विचारधारा की गभीर आलोचना करना इस पुस्तक का उद्देश्य नही है। इसकी केवल मानस की व्यावहारिकता की ओर इशारा करना है और यह बताना है कि इस धार्मिक, साहित्यिक और सामाजिक रचना के अध्ययन से लोग अपने दैनिक जीवन के लिए मार्ग-दर्शन प्राप्त कर सकते हैं और सामाजिक कार्य के लिए प्रेरणा दे सकते हैं। आज के युग मे जब व्यापक रूप से सामाजिक एव आर्थिक पुनर्रचना का कार्य चल रहा है और विज्ञान तथा अर्थ-शास्त्र का बोल-बाला है, हमे यह ध्यान मे रखकर चलना चाहिए कि हमारे गांव की जनता तबतक देश के निर्माण मे भाग लेने के लिए पूर्णत. उत्साहित नही हो सकती, जबतक उसका महत्त्व उसे उसकी भाषा मे न समझाया जाय। यह माध्यम ऐसा भी होना चाहिए, जिसके प्रति उसके मन मे श्रद्धा और विश्वास हो, जिसकी चर्चा मे उसका हृदय उमगित हो उठता हो और वह निर्दिष्ट कार्य के लिए त्याग और परिश्रम करने को तैयार हो जाय।

आज समाज मे हिंदू धर्म या सनातन धर्म के प्राचीन विचार सभी को ग्राह्य नही हो सकते। अंग्रेजी शिक्षा-प्राप्त, धर्म-निरपेक्ष राज्य के युवक, प्रौढ़ या महिलाए उखडे हुए पौधों की तरह अपनी धरती से जीवन का रस लेने मे अनिच्छा भी प्रकट कर सकते है। आज के प्राविधिक कार्यकर्ता या शिल्पी मानस के मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक भाव से अनभिज्ञ हो सकते है, इसलिए आज मानस का ऐसा स्वरूप समाज के सामने रखना है, जो सार्वदेशिक और सार्वकालिक हो। इस पुस्तक मे इसी प्रकार का प्रयास किया गया है। हो सकता है कि इस तरह की व्याख्या मे विशुद्ध धर्म-भावनावाले भक्तो को आनद न आये। जो हो, हमने इस बात की कोशिश की है कि मानस से जो व्याव-हारिक शिक्षा मिलती है, वह स्पष्ट रूप से जनता और कार्यकर्ताओं के सामने आ जाय।

इस पुस्तक की रचना एव तैयारी मे मुझे जिन-जिनसे सहायता मिली है, उन सबका उल्लेख करना संभव नही। पर इतना मैं हृदय से कह सकता हू कि बिना उनकी मदद के इस पुस्तक का तैयार होना संभव नही था। मै उन सबका आभारी हू।

आशा है, पाठक इस पुस्तक को इसकी व्यावहारिक उपयोगिता की दृष्टि से देखने का प्रयास करेंगे।

—बैजनाथसिंह

विषय-सूची

मानस का सामाजिक दर्शन

: १ :

मानव-व्यवहार के आधार

रामचरितमानस हिन्दी भाषा-भाषी प्रदेशो मे सबसे अधिक लोकप्रिय ग्रंथ है। साक्षर-निरक्षर, बालक-वृद्ध, नर-नारी, सभी मानस से प्रेरणा लेते हैं और जीवन की कठिनाइयो, सकटो और निराशाओ में रामचरितमानस उन्हे स्फूर्ति और प्रोत्साहन देता है।

रामचरितमानस अत्यत उत्कृष्ट साहित्यिक रचना है। यद्यपि गोस्वामीजी निम्नलिखित पक्तियो मे बडी विनम्रता से कहते है :

> कबि न होउँ नहिं बचनप्रबीनू। सकल कला सब बिद्या हीनू॥
> आखर अरथ अलंकृति नाना। छंद प्रबंध अनेक बिधाना॥
> भाव-भेद रस-भेद अपारा। कबित दोष-गुन बिबिध प्रकारा॥
> कबित बिबेक एक नहिं मोरें। सत्य कहौ लिखि कागद कोरें॥

तथापि भाषा की सजीवता और सुदरता तथा अलकारो और रसो की अनुपम छटा का मानस से बढकर सुदर विवेचन विश्व-साहित्य मे शायद ही कही देखने को मिले। पर गोस्वामीजी की दृष्टि मे मानस का महत्त्व केवल उसकी साहित्यिक विशेषताओ के कारण ही नही है, बल्कि इसलिए है कि :

> एहि मह रघुपति नाम उदारा। अति पावन पुरान श्रुति सारा॥
> जदपि कबित रस एकौ नाही। राम प्रताप प्रगट एहि माहीं॥

इसमे मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् राम का जीवन-चरित वर्णित है, जो अत्यंत पवित्र है और प्राचीन इतिहास तथा लोक-श्रुति का साराश है। श्रीराम का जीवन भारतीय सस्कृति का उज्ज्वल प्रतीक है और

भारत के नागरिकों को सामाजिक आदर्शों की व्यावहारिक शिक्षा देता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि 'मानस' जीवन की दैनिक समस्याओं के समाधान के लिए स्पष्ट रूप से मार्ग-प्रदर्शन करता है। यही उसकी अद्‌भुत लोकप्रियता का सबसे बड़ा आधार है। मानस के व्यक्तिगत और सामाजिक व्यवहार-संबंधी आदर्शों पर चर्चा करने से पूर्व हम इस बात पर विचार करेंगे कि मानव-व्यवहार के मूल सिद्धांत क्या हैं।

मनुष्य के व्यवहार को किसी विशेष दिशा की ओर सचालित करने के लिए निम्नलिखित तीन बातों की आवश्यकता है :

(१) व्यक्ति की अपनी विशेषता,

(२) उसका सामाजिक वातावरण, और

(३) उसकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि।

मनुष्य जन्म के समय केवल थोड़े-से स्वाभाविक संवेगों से परिचालित होता है, जैसे भूख, नींद, पीड़ा, भय, शीत, गर्मी और स्नेहपूर्ण स्पर्श। उसकी ज्ञानेंद्रियां विकसित नहीं होतीं। उसके शारीरिक अंगों का परिचालन भी समन्वित नहीं होता। वस्तुतः वह अस्थि-पंजर की एक सचल और मांसल गठरी-सा ही प्रतीत होता है। इस संदर्भ में—'जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते' का एक मनोवैज्ञानिक अर्थ है। शूद्र या द्विज का अर्थ यहां किसी वर्ग या वर्ण-विशेष की तथाकथित उच्चता या नीचता से नहीं है। इसका तात्पर्य केवल यही है कि प्रत्येक व्यक्ति जन्म के समय असंस्कृत या संस्कारहीन होता है। संस्कार, अर्थात् शिक्षा और संस्कृति के संवहन, द्वारा वह सभ्य और सुसंस्कृत बनता है, इसे उसका दूसरा जन्म मानना चाहिए। वह परिवार और पड़ोस तथा जन-समूह के व्यवहार के माध्यम से समाज की लोक-परंपराओं और पौराणिक परंपराओं से परिचय प्राप्त करता है। किन परिस्थितियों में उसे क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए, इसका ज्ञान होता है। पाप-पुण्य, सुख-दुःख के अंतर को भी वह धीरे-धीरे समझता है। लोकोक्ति प्रसिद्ध है .

देखा-देखी पुण्य, देखा-देखी पाप।

व्यक्ति का आचरण निर्धारित करने में दूसरों के आचरण का बड़ा महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। वह निकट के वातावरण या सामाजिक परिस्थितियो से और अतीत की परंपराओ या सास्कृतिक परिस्थितियो से प्रभावित होता है। इसमें कोई संदेह नही कि इन परिस्थितियों के प्रति उसकी व्यक्तिगत प्रतिक्रिया भी होती है और प्रत्येक व्यक्ति समान रूप से न तो सामाजिक वातावरण के अनुकूल व्यवहार करता है, न सास्कृतिक परपरा के। कुछ लोग इन परिस्थितियो से विद्रोह करते है और उनका आचरण बिल्कुल विपरीत दिशा में जाता है। फिर भी व्यवहार मे इन साधारण विभिन्नताओ के होते हुए भी सामाजिक और सास्कृतिक वातावरण के महत्त्व को मानव-व्यवहार के निर्देशन में भुलाया नही जा सकता।

रामचरितमानस मे व्यवहार-शास्त्र के तीनो प्रमुख अगो का निम्न प्रकार विवेचन किया गया है :

(१) व्यक्तिगत विशेषता लक्ष्मण, भरत, कैकेयी, कौशल्या, शूर्पणखा या रावण की व्यक्तिगत प्रतिक्रियाओ और व्यवहार की रीति-नीति से प्रकट होती है। लगभग एक ही परिस्थिति मे लक्ष्मण का वीर स्वभाव राम के वीर स्वभाव से भिन्न प्रकार का व्यवहार करता है। इसी प्रकार रावण और विभीपण या वालि और सुग्रीव की प्रतिक्रियाओ में भी अन्तर पाया जाता है।

(२) सामाजिक परिस्थिति—मानस की व्यापक कथावस्तु से देश की तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति व्यक्त होती है, पर इस वडे महाकाव्य का चित्रपट भी बहुत वडा है। देश-काल की सीमा को पार कर यह कथावस्तु प्रत्येक युग और समाज के लिए अनुसरण और अनुकरण का स्रोत वन जाती है।

(३) सास्कृतिक परपरा के सबध मे तो गोस्वामीजी ने स्वयं कहा है :

नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद्
रामायणे निगदित क्वचिदन्यतोऽपि ।

अनेक पुराणो, वेदो, उपनिषदो और ब्राह्मण-ग्रथो आदि की महान् परपरा मे जो विचार और आदर्श उपस्थित किये गए हैं, उनका वर्णन तो रामचरितमानस मे ही है, इनके अतिरिक्त कुछ विचार अन्यत्र से, अर्थात् दूसरे आधारो से भी लिये गए है। इस 'अन्यत्र' मे गोस्वामीजी की स्वय की सूझ-बूझ भी है और लोक-परपरा या राबर्ट रेडफीरड के वर्गीकरण के अनुसार लाघव-परंपरा का भी उपयोग किया गया है। उदाहरण के लिए हम एक चौपाई लेते हैं। मानस के राम-वाल्मीकि-सवाद मे महर्षि वाल्मीकि रामचंद्र को उनके योग्य निवास-स्थान बताते है। निवास-स्थान का यह वर्णन प्रकारातर से सामाजिक और व्यक्तिगत व्यवहार का आदर्श प्रस्तुत करता है। वाल्मीकि कहते हैं .

कहहिं सत्य प्रिय बचन बिचारी। जागत सोवत सरन तुम्हारी ॥

यहा पुराण-निगमागम-सम्मत निर्देश है ·

सत्य ब्रूयात्प्रिय ब्रूयान्मा ब्रूयात्सत्यमप्रियम् ।

अर्थात् सत्य बोलना चाहिए, प्रिय बोलना चाहिए, सत्य भी यदि अप्रिय हो तो नही बोलना चाहिए; परन्तु गोस्वामीजी 'बिचारी' शब्द का अतिरिक्त प्रयोग करके अपनी उक्ति मे नवीन प्राण फूक देते है। उनका कहना है कि भगवान् का भक्त न केवल सत्य या प्रिय बात कहता है, वरन् जो-कुछ कहता है, उसे सोच-विचारकर भी कहता है। अपने कथन के परिणाम का भी अनुमान कर लेता है—विवेचन या विचार कर लेता है। यही गोस्वामीजी की मौलिक विशेषता है, जो मानस को जन-मानस मे अद्भुत प्रतिष्ठा का स्थान दिला देती है।

सामाजिक वातावरण और सास्कृतिक परपरा मे भी अन्योन्याश्रय-सबध है। समय पाकर सामाजिक वातावरण से सास्कृतिक परपरा का निर्माण होता है और सास्कृतिक परपरा से समाज को दिशा और प्रगति मिलती रहती है। विशेपकर सास्कृतिक परपरा समाज को

स्थायित्व देती है और अत्यंत शीघ्रगामी परिवर्तन या विघटन से बचाती है।

प्रस्तुत विवेचन मे मानस मे वर्णित तत्काकीन सामाजिक संगठन का परिचय मिलता है। समाज व्यक्ति और समूह के परस्पर अंतर्मिलन का माध्यम है। हर अवस्था, लिंग और पद के लोग परस्पर एक-दूसरे से समन्वित रूप मे व्यवहार करते है और क्रमशः उनके व्यवहार का स्वरूप विकसित होता है। यही सबध समाज का सगठन कहलाता है और लोगो के सामार्जिक व्यवहार की प्रक्रिया को समाज का कार्य कहते है। इन्हींका अध्ययन समाज-शास्त्र का विषय है।

रामचरितमानस प्रागैतिहासिक युग के महामहिम श्रीरामचंद्र के जीवन का एक विशद चित्रण है। इसकी पृष्ठभूमि मे तत्कालीन समाज के सगठन और व्यवहार का पूरा विवरण मिलता है। समाज की प्रमुख सस्थाए जैसे परिवार, शिक्षा-सस्था, धर्म और राज्य के सचालन की रीति-नीति का तो इसमे परिचय मिलता ही हैं, उसकी मौलिक मान्यताओ या सांस्कृतिक परपराओं का निरूपण भी ज्ञान, कर्म और भक्ति के विवेचन मे किया गया है। सामूहिक कार्य के सगठन और संचालन के साथ सामाजिक विचारो के सवहन के प्रमुख माध्यमो की भी (सवाद, सत्संग, विवाद और सभाशास्त्र के रूप मे) चर्चा की गई हैं और अंत में जीवन के चरम उद्देश्य मानस के स्वराज्य की नई व्याख्या की गई है। इस प्रकार मानस की कथा न केवल कथा-भक्तों के लिए उपयोगी है, वरन् कर्मठ व्यक्तियों के लिए मार्ग-दर्शन और ज्ञानियो के लिए जिज्ञासा का विषय है।

: २ :

पारिवारिक संगठन

परिवार का महत्त्व

समाज का मूल आधार परिवार है। परिवार के बिना हम नितात परावलबी मानव-शिशु के पालन-पोषण की कल्पना भी नही कर सकते। गाय का बछडा जन्म के तुरंत बाद ही उछलने-कूदने लगता है, परतु मनुष्य के बच्चे को वर्ष-दो वर्ष तक बडे ही यत्न से पालना पड़ता है। उसे भोजन करने, चलने-फिरने और बोलने की शिक्षा बडी ही सावधानी से दी जाती है। इसीलिए प्रत्येक देश और प्रत्येक सस्कृति मे परिवार का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। परिवार के सम्बन्धी है—माता-पिता, पति-पत्नी, भाई-भाई या भाई-बहिन और बालक-वृद। परिवार के निकट सरक्षको मे आते हैं पुरोहित और कुल-गुरु। रामचरितमानस का सबसे बडा सदेश पारिवारिक सगठन के क्षेत्र मे ही है। इसीलिए इसकी इतनी व्यापक लोकप्रियता भी है। क्योकि समाज के और सगठनो में अधिक तेजी से परिवर्तन हुए है, वे बने या मिटे हैं, पर परिवार अपनी सयुक्त या छोटी इकाई मे अक्षुण्ण रहा है।

माता-पिता

परिवार के निर्माण और निर्वाह मे माता-पिता का सबसे बडा स्थान है। पुत्र के प्रति अपने कर्तव्य को विशेष महत्त्व देने के लिए भारतीय साहित्य मे प्राय इस बात का वर्णन मिलता है कि योग्य सतान माता-पिता के तप के फलस्वरूप मिलती है। विष्णु भगवान् ने स्वय देवताओं को आश्वासन देते हुए यह कहा है :

कस्यप अदिति महातप कीन्हा। तिन्ह कहुँ मैं पूरब बर दीन्हा॥
ते दसरथ कौसल्या रूपा। कोसलपुरी प्रकट नर भूपा॥
तिन्ह के गृह अवतरिहउँ जाई। रघुकुलतिलक सो चारिउ भाई॥

कार्तिकेय के जन्म के सबध मे यह तप की क्रिया और पहले आरभ होती है। पार्वती भगवान् शंकर की प्राप्ति के लिए घोर तप करती हैं।

माता का स्थान पिता से भी अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। गोस्वामी तुलसीदास ने कौशल्या माता की विशेषता वर्णन करते हुए कहा है:

ब्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद।
सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या के गोद॥

माता-पिता को शिशु के पालन मे भी बहुत सावधानी बरतनी पड़ती है। यह एक प्रकार का तप ही होता है; लेकिन बालकों की स्वाभाविक मधुरता, उनकी सरलता और चपलता माता-पिता के मन को मुग्ध कर लेती है। शिशुओ का स्वाभाविक आकर्षण उन्हें आवश्यक सुरक्षा प्रदान करने मे सहायक होता है। यद्यपि बालक राम और उनके भाई भरत, लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न राजपुत्र हैं, फिर भी उनके सामान्य बाल-व्यवहार मे कोई विशेष अतर नही। माता कौशल्या 'लै उछंग कबहूँक हलरावै, कबहुँ पालने घालि झुलावै' और:

प्रेम मगन कौसल्या निस दिन जात न जान।
सुत सनेह बस माता बाल चरित कर गान॥

रामचंद्र बढते हैं और कुछ शिक्षा प्राप्त करके पिता के आदेश के अनुसार राज्य-कार्य मे दिलचस्पी लेते है:

प्रातकाल उठि कै रघुनाथा। मातु पिता गुरु नावहिं माथा॥
आयसु मागि करहिं पुर काजा। देखि चरित हरषै मन राजा॥

विश्वामित्र के आने पर महाराज दशरथ के पुत्र-प्रेम की परीक्षा होती है। उनके यह कहने पर कि:

अनुज समेत देहु रघुनाथा। निसिचर-बध मै होब सनाथा॥

राजा वडे धर्म-सकट मे पड जाते हैं :

सुनि राजा अति अप्रिय बानी। हृदय कंप मुखदुति कुमुलानी ॥
चौथेंपन पाएउँ सुत चारी। बिप्र बचन नहिं कहेहु बिचारी ॥
मागहु भूमि धेनु धन कोसा। सर्वस देउँ आजु सह रोसा ॥
देह प्रान तें प्रिय कछु नाहीं। सोउ मुनि देउँ निमिष एक माहीं ॥
सब सुत प्रिय मोहि प्रान कि नाईं। राम देत नहिं बनइ गोसाईं ॥
कहँ निसिचर अति घोर कठोरा। कहँ सुंदर सुत परम किसोरा ॥

परन्तु अत मे महाराज वशिष्ठ के समझाने पर उन्होने राम और लक्ष्मण को विश्वामित्र के साथ भेजा। इसके बाद अयोध्यापुरी से उनका सपर्क तभी होता है, जब महाराज जनक के दूत रामचद्र द्वारा धनुप के तोडे जाने तथा उनके स्वयवर का समाचार लेकर आते हैं

करि प्रनामु तिन्ह पाती दीन्ही। मुदित महीप आप उठि लीन्ही ॥
बारि बिलोचन बाँचत पाती। पुलक गात आई भरि छाती ॥
रामु लखनु उर कर बर चीठी। रहि गए कहत न खाटी मीठी ॥
पुनि धरि धीर पत्रिका बाँची। हरषी सभा बात सुनि साँची ॥

दशरथ बार-बार उन दूतो से पूछते हैं कि क्या उन्होने स्वय दोनो बालको (राम और लक्ष्मण) को देखा है ?

स्यामल गौर धरें धनु भाथा। बय किसोर कौसिक मुनि साथा ॥
पहिचानहु तुम्ह कहहु सुभाऊ। प्रेम बिबस पुनि पुनि कह राऊ ॥

राजदूतो के वर्णन से महाराज दशरथ स्नेह-विभोर हो जाते है

सभा समेत राउ अनुरागे। दूतन्ह देन निछावरि लागे ॥

और तब महाराज दशरथ ने जाकर वशिष्ठजी को पत्रिका दी और आदर के साथ दूतो को बुलाकर गुरु के सामने वह कथा प्रस्तुत की। गुरु इससे बहुत प्रसन्न हुए। बारात की तैयारी हुई। वशिष्ठ ने कहा, 'तुम सचमुच बहुत पुण्यवान् हो। तुम-सा पुण्यात्मा न हुआ है, न होगा। उनसे बढकर पुण्य किसीके पास नही, जिनके रामचद्र-जैसा पुत्र हो।' दशरथ बारात लेकर जनकपुरी जाते है। उनके आने पर रामचद्र और

लक्ष्मण को अपार आनद मिलता है। वे अपने पिता के दर्शन के लिए अत्यत उत्सुक होते है, पर सकोचवश विश्वामित्रजी से कह नही पाते। विश्वामित्र उनके इस स्नेह-सघर्ष को देखते है और उन्हे दशरथ के पास ले जाते है

भूप बिलोके जबहि मुनि आवत सुतन्ह समेत।
उठे हरषि सुख सिधु महु चले थाह सी लेत॥

दशरथ मुनि को दडवत् प्रणाम करते है। विश्वामित्र उन्हे हृदय से लगा लेते है और आशीर्वाद देकर उनकी कुशल पूछते है, फिर :

पुनि दंडवत करत दोउ भाई। देखि नृपति उर सुखु न समाई॥
सुत हिय लाइ दुसह दुखु मेटे। मृतक सरीर प्रान जनु भेटे॥

राम और लक्ष्मण के प्रति दशरथ का प्रेम वहुत ही प्रगाढ है और भावनाशील पिता अपने इस प्रेम को छिपा नही सकते।

सीता की माता सुनयना रामचद्र के रूप और शील पर अत्यत प्रसन्न होती है :

जो सुखु भा सिय मातु मन देखि राम बर वेषु।
सो न सकहि कहि कलप सत सहस सारदा सेषु॥

महाराजा जनक का प्रेम बडा गूढ था और विदेह राजा जनक उसे व्यक्त रूप से प्रकट नही कर सकते थे। दशरथ सीता को किस प्रकार अपनी पुत्री मानते है, और अपने परिवार मे किस प्रकार उन्हे सम्मिलित कर लेते है, इसका वर्णन इस चौपाई से मिलता है :

नृप सब भाँति सबहि सनमानी। कहि मृदु बचन बोलाई रानीं॥
बधू लरिकिनी पर घर आईं। राखेहु नयन पलक की नाईं॥
लरिका श्रमित उनींद बस सयन करावहु जाइ।
अस कहि गे बिश्रामगृह राम चरन चितु लाइ॥

अयोध्या-काड के आरभ में हम देखते है कि रामचद्र राज्य का वहुत-कुछ कार्य सभालते हैं और इसलिए निश्चय किया जाता है कि राजा दशरथ रामचंद्र को युवराज-पद दे दे। गुरु से इसके सबध में

परामर्श करते है और उनका भी समर्थन प्राप्त करते है। महाराज दशरथ की यह प्रवल इच्छा है कि

मोहि अछत यहु होइ उछाहू। लहहि लोग सव लोचन लाहू॥
प्रभु प्रसाद सिव सवइ निवाही। यह लालसा एक मन माही॥

परन्तु धीरे-धीरे परिस्थिति ऐसी होती है कि राम का राज्याभिषेक नही हो पाता और वे राज्य छोडकर वन जाते है। मथरा द्वारा प्रेरित होकर कैकेयी अपने दो भयकर वरदान मागती है, जिनके द्वारा भरत को राज्याभिषेक और राम को १४ वर्ष का वनवास मिलता है। महाराज दशरथ एक ओर अपने वर देने की प्रतिज्ञा से वधे है, दूसरी ओर पुत्र के पति उनका प्रेम वहुत ही प्रवल है। एक ओर तो :

रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्रान जाहुँ वरु वचनु न जाई॥

का व्रत है, दूसरी ओर,

जिअइ मीन वरु वारि विहीना। मनि विनु फनिकु जिअइ दुख दीना॥
कहउँ सुभाउ न छलु मन माही। जीवनु मोर राम विनु नाही॥

दशरथ को रामचद्र के वन भेजने की घटना से इतना क्लेश हुआ कि उसको सहन न कर सके; वह मूर्छित होगये और तडप-तडपकर अपने जीवन का अत कर दिया। पुत्र के प्रति ममता की इतनी सघनता होते हुए भी विश्व-साहित्य मे सत्य का ऐसा निर्वाह करते हुए कोई दूसरा नायक नही मिलता।

इधर पिता की इतनी आसक्ति, उधर कौशल्या-जैसी माता की यह उदारता कि वह सहर्ष रामचद्र को वन भेजे, और भी आश्चर्यजनक लगती है। उन्होने रामचद्र से कहा

जौं केवल पितु आयसु ताता। तौ जनि जाहु जानि वडि माता॥
जौं पितु मातु कहेउ वन जाना। तौ कानन सत अवध समाना॥

सुमित्रा की उदारता तो और भी मार्मिक है। लक्ष्मण रामचद्र के साथ चलने के लिए तैयार होते है। वह अपनी माता सुमित्रा के पास आज्ञा लेने जाते है। सुमित्रा उत्तर देती है:

तात तुम्हारि मातु बैदेही। पिता रामु सब भाँति सनेही ॥
अवध तहाँ जहँ राम निवासू। तहँइँ दिवसु जहँ भानु प्रकासू ॥
जौं पै सीय रामु बन जाहीं। अवध तुम्हार काजु कछु नाहीं ॥
भूरि भाग भाजनु भयहु मोहि समेत बलि जाउँ।
जौं तुम्हरें मन छाड़ि छलु कीन्ह राम पद ठाउँ ॥

माता कैकेयी के वर्णन के बिना मातृ-स्वभाव का पूरा विवरण असंभव होगा। भारतीय लोक-परपरा के अनुसार उनका चरित्र निदनीय माना जाता है। उनपर सकीर्णता, स्वार्थ, हठ और कटुता का आरोप लगाया जाता है। स्वय भरत को माता के आचरण पर लज्जा आती है, परन्तु भरत को राज्य दिलाने की उनकी कल्पना माता के पुत्र-प्रेम की ही प्रतीक है। वह जीवन-भर अपने मोह का अपयश ढोती रही। रामचद्र को मनाने चित्रकूट तक गईं, पर अवसर-विशेष पर वह मथरा के बहकावे मे आ गईं। यह उनके स्वभाव की सरलता थी, जिसका अनुचित उपयोग मथरा ने किया। उसने कहा :

पूत बिदेस न सोचु तुम्हारें। जानति हहु बस नाहु हमारें ॥
नीद बहुत प्रिय सेज तुराई। लखहु न भूप कपट चतुराई ॥

रानी पहले तो इस बात पर बहुत रुष्ट हुई, परंतु धीरे-धीरे मंथरा की कूटनीति का विष उनके ऊपर चढा और उन्होने स्वीकार कर लिया :

सुनु मंथरा बात फुरि तोरी। दहिन आँखि नित फरकइ मोरी ॥
दिन प्रति देखउँ राति कुसपनें। कहउँ न तोहि मोहबस अपनें ॥
काह करौं सखि सूध सुभाऊ। दाहिन बाम न जानउँ काऊ ॥

सरल-हृदया कैकेयी जब मन मे कटुता लाकर भयकर रूप धारण करती है तो बहुत ही उग्र हो जाती है और फिर किसीके समझाये-बुझाये नही मानती। करुणामयी और उदार माता भयकर चंडी का रूप धारण कर लेती है। तब तो भरत का राज्याभिषेक उनका अभीष्ट बन जाता है और उस मार्ग मे आनेवाली बाधाओ को वह पूरी निर्भीकता से हटाना चाहती है। महाराज दशरथ का मरण अथवा अपने वैधव्य का दुःख वे

प्राय उतने ही निश्चल भाव से सह लेती हैं। इस प्रकरण में उनका व्यवहार इतना कुटिल हो जाता है कि गोस्वामीजी को उनके चरित्र-चित्रण को विश्वसनीय बनाने के लिए यह कहना पड़ता है कि उनपर शारदा का प्रभाव था और देवता उनसे यह काम करवाना चाहते थे, जिससे रामचंद्र वन चले जाय और आततायियों का विनाश कर सकें। स्वयं भरत ने कैकेयी के इस व्यवहार की घोर निंदा की और कहा

> जौं पै कुरुचि रही अति तोही। जनमत काहे न मारेसि मोही ॥
> पेड़ काटि तैं पालउ सींचा। मीन जिअन निति बारि उलीचा ॥
>
> हंसवंसु दसरथु जनकु राम लखन से भाइ।
> जननी तूं जननी भई बिधि सन कछु न बसाइ ॥

इस प्रकार कैकेयी अपने पुत्र भरत की भर्त्सना को भी सहन करती हैं। उनकी सबसे बड़ी भूल यह थी कि उन्होंने भरत का स्वभाव और आदर्श ठीक तरह से नहीं समझा और वह एक कुटिल दासी के वाग्जाल में फंस गई थीं। फिर भी उनकी उनकी मातृ-वत्सलता असंदिग्ध है। राम के लिए भी उन्होंने स्वयं कहा था :

> कौसल्या सम सब महतारी। रामहि सहज सुभायँ पिआरी ॥
> मो पर करहिं सनेहु बिसेषी। मैं करि प्रीति परीछा देखी ॥
> जौं बिधि जनमु देइ करि छोहू। होहुँ राम सिय पूत पतोहू ॥
> प्रान तें अधिक रामु प्रिय मोरें। तिन्ह कें तिलक छोभु कस तोरें ॥

और स्वयं राम से अपनी कुटिलता के प्रसंग में इस बात पर बल दिया था :

> तुम्ह अपराध जोगु नहिं ताता। जननी जनक बंधु सुखदाता ॥
> राम सत्य सबु जो कछु कहहू। तुम्ह पितु मातु बचन रत अहहू ॥

कैकेयी की आसक्ति, मोह या ममता उनके अपयश का कारण बनी। लोक-साहित्य में उनके चरित्र का समार्जन करते हुए लोकोक्तिकार ने भाग्यवाद का सहारा लेते हुए कहा है कि राम का वन-गमन तो अवश्य-भावी था, पर कैकेयी निमित्त बनी :

राम क' बन, ककही क' अपजस ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रामचरितमानस में पितृ-प्रेम और मातृ-प्रेम मे मधुर भावना, सत्य-निष्ठा और त्याग का अद्‌भुत समन्वय है। कौशल्या राम को सहर्ष वन जाने का आदेश देती है। सुमित्रा लक्ष्मण को रामचद्र और सीता के साथ जाने के लिए और भी प्रेरित करती है। उनके उत्साह और उनकी कर्तव्य-भावना को और भी प्रोत्साहन देती है। महाराज दशरथ तो सबसे बड़ा त्याग, अर्थात् जीवन का त्याग, करते है। परिवार नामक मौलिक सस्था के आधार है ऐसे त्यागी माता-पिता और उनकी आज्ञा का उत्साहपूर्वक पालन करनेवाले ऐसे पुत्र और पुत्र-वधू !

बालक

परिवार के दूसरे आधार है बालक या शिशुगण। उनके प्रति स्नेह या कर्तव्य की भावना से उनके माता-पिता का आकर्पण भी एक-दूसरे के प्रति और बढता है और यह नया आधार उनके दापत्य के धार्मिक और नैतिक आधार को और दृढ करता है। रामचरितमानस में यह बाल-स्नेह बिखरा पडा है। सूरदास ने तो बाल-कृष्ण की लीला के वर्णन मे अपने अगणित पद न्योछावर कर दिये है। तुलसीदास का कथानक अधिक व्यापक है, फिर भी भगवान् रामचद्र के बाल-चरित का उन्होने विशद वर्णन किया है। श्रीशकरजी से भी यह कहलवा दिया है :

इष्टदेव मम बालक रामा। शोभा बपुष कोटि सत कामा ।।

बालकाड मे गोस्वामीजी ने बालक राम के रूप का वर्णन करते हुए लिखा है .

काम कोटि छबि स्याम सरीरा। नील कंज बारिद गभीरा ।।
अरुन चरन पंकज नख जोती। कमल दलन्हि बैठे जनु मोती ।।
रेख कुलिस ध्वज अंकुस सोहे। नूपुर धुनि सुनि मुनि मन मोहे ।।
कटि किंकिनी उदर त्रय रेखा। नाभि गभीर जान जिन्ह देखा ।।
भुज बिसाल भूषन जुत भूरी। हियं हरिनख अति सोभा रूरी ।।

उर मनिहार पदिक की सोभा। विप्रचरन देखत मन लोभा॥
कंबु कंठ अति चिबुक सुहाई। आनन अमित मदन छवि छाई॥
दुइ दुइ दसन अधर अरुनारे। नासा तिलक को बरनै पारे॥
सुंदर श्रवन सुचारु कपोला। अति प्रिय मधुर तोतरे बोला॥
चिक्कन कच कुंचित गभुआरे। बहु प्रकार रचि मातु सँवारे॥
पीत झगुलिआ तनु पहिराई। जानु पानि बिचरनि मोहि भाई॥
रूप सकहिं नहिं कहि श्रुति सेषा। सो जानै सपनेहुँ जेहि देखा॥

यह वर्णन बालक की शारीरिक सुंदरता का आकर्षक चित्र उपस्थित करता है। उनके व्यवहार-संबंधी आकर्षण का वर्णन भी उन्होंने संक्षेप में किया है

भोजन करत बोल जब राजा। नहिं आवत तजि बाल समाजा॥
कौसल्या जब बोलन जाई। ठुमुकु ठुमुकु प्रभु चलहिं पराई॥
निगम नेति सिव अंत न पावा। ताहि धरै जननी हठि धावा॥
धूसर धूरि भरें तनु आए। भूपति बिहसि गोद बैठाए॥
भोजन करत चपल चित इत उत अवसरु पाइ।
भाजि चले किलकत मुख दधि ओदन लपटाइ॥

इन बालकों के विकास का वर्णन भी गोस्वामी जी ने संक्षेप में किया है

भए कुमार जबहिं सब भ्राता। दीन्ह जनेऊ गुरु पितु माता॥
गुरगृहँ गए पढ़न रघुराई। अलप काल बिद्या सब पाई॥

उनके सामान्य व्यवहार का वर्णन करते हुए गोस्वामीजी ने सार की बात कह दी है

अनुज सखा सँग भोजन करहीं। मातु पिता अग्या अनुसरहीं॥
जेहि बिधि सुखी होहिं पुर लोगा। करहिं कृपानिधि सोइ सँजोगा॥

राम बढ़ते है, आखेट खेलने जाते है, मृगों को मारकर अपने पिता को अपना पराक्रम दिखाते है, गुरु-गृह जाकर शीघ्र विद्या प्राप्त करते हैं। विश्वामित्र के यहा जाते हैं और उनके यज्ञ की रक्षा करते है, तथा

उसके बाद स्वयवर मे जाते है। बालक राम के विकास का यह वर्णन रामचरितमानस मे बहुत विस्तार से दिया गया है। यहा हम केवल उसका सकेत-मात्र कर रहे है, क्योकि मानस की कथा से तो प्राय. हर भारतवासी परिचित है।

बालक या नवयुवक को माता-पिता का आज्ञाकारी होना चाहिए, यह आदर्श मानस का मुख्य आधार है। गोस्वामीजी ने लिखा है.

अनुचित उचित बिचार तजि जे पालहिं पितु बैन।
ते भाजन सुख सुजस के बसहिं अमरपति ऐन॥

इसी आदर्श को माता कौशल्या ने बहुत ही उदात्त भाव से व्यक्त किया है, जिसकी चर्चा इसके पहले प्रकरण मे की गई है और यह बताया गया है कि पिता का आदेश-पालन महत्त्वपूर्ण है। माता का उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योकि माता का स्थान पिता से भी अधिक बडा है, ऐसा प्रमाण कौशल्या ने दिया है। परन्तु यदि पिता का आदेश हो और उसमे माता (विमाता) की भी स्वीकृति हो, तो उस आदेश का पालन तो बहुत ही तत्परता और उल्लास के साथ करना चाहिए। रामचद्र ने ऐसा ही किया और यह कहा ·

बरष चारि दस बिपिन बसि करि पितु बचन प्रमान।
आइ पाय पुनि देखिहौं मनु जनि करसि मलान॥

राम माता-पिता की आज्ञा का पालन करते है, उन्हे तरह-तरह के कष्ट होते है, पिता का देहावसान हो जाता है, फिर भी कैकेयी के प्रति, जिन्होने उन्हे वनवास का आदेश दिलाया था, वह मन मे कोई दुर्भावना नही रखते। और चित्रकूट के प्रसग मे जब कैकेयी भरत के साथ तथा पूरे परिवार और समाज के साथ राम को वापस लिवाने गई तो .

प्रथम राम भेंटी कैकेई। सरल सुभायँ भगति मति भेई॥
पग परि कीन्ह प्रबोधु बहोरी। काल करम बिधि सिर धरि खोरी॥
भेंटी रघुवर मातु सब करि प्रबोधु परितोषु।
अंब ईस आधीन जगु काहु न देइअ दोषु॥

कैकेयी को ग्लानि थी और अपने व्यवहार पर पश्चात्ताप था, विशेषकर इसलिए भी कि राम के मन में उनके प्रति बिल्कुल कटुता नहीं थी। यदि राम के मन में विरोध होता तो कैकेयी का हठी मन ग्लानि से न गल जाता।

रामचरितमानस में दूसरी पीढ़ी के बालकों अर्थात् लव-कुश का वर्णन बिल्कुल नहीं है। दूसरे वर्गों में पुत्र की स्थिति में अंगद और मेघनाद आदि हैं। सभी अपने स्थान पर आज्ञाकारी हैं, पर राम की आज्ञाकारिता सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि उन्होंने पिता को धर्म-संकट से बचाने के लिए और उनके आदेश का पालन करने के लिए अपना सारा राज्य त्याग दिया और एक अद्भुत साम्य की मानसिक स्थिति दिखाई—प्रसन्नता या न गताभिषेकत. तथा न मम्ले वनवासदुःखतः। (जो अभिषेक के समाचार से प्रसन्न नहीं हुए और वनवास के दुःख से उदास नहीं हुए।)

इस आदर्श ने भारतीय परिवार की परंपरा को स्थायी रखने में महत्त्वपूर्ण योग दिया है।

भाई-भाई

उनके बचपन से ही दिखाया है। साथ खेलना-पढ़ना और उठना-बैठना उनके पारस्परिक स्नेह को प्रगाढ़ करता है :

भए कुमार जबहिं सब भ्राता। दीन्ह जनेऊ गुरु पितु माता ॥
गुर गृह गए पढ़न रघुराई। अलप काल बिद्या सब पाई ॥
बंधु सखा सँग लेहिं बोलाई। बन मृगया नित खेलहिं जाई ॥
अनुज सखा सँग भोजन करहीं। मातु पिता अग्या अनुसरहीं ॥
बेद पुरान सुनहिं मन लाई। आपु कहहिं अनुजन्ह समुझाई ॥

भरत और राम के बीच स्वार्थ-संघर्ष की परिस्थिति आती है, क्योकि कैकेयी भरत के मनोभाव को ठीक से नही समझ पाती और उनके लिए राज्य प्राप्त करने का प्रयास करती हैं, लेकिन उनका अभीष्ट सिद्ध नही होता। राम तो स्वयं राज-पद लेने से संकोच करते है और कहते हैं :

जनमे एक संग सब भाई। भोजन सयन केलि लरिकाई ॥
करनबेध उपबीत बिआहा। संग संग सब भए उछाहा ॥
बिमल बंस यहु अनुचित एकू। बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू ॥

और लक्ष्मण के आने पर रामचंद्र आनंद-मग्न होकर छोटे भाई का आदर करते है और स्नेह-भाव दिखाते है :

तेहि अवसर आए लखन मगन प्रेम आनंद।
सनमाने प्रिय बचन कहि रघुकुल कैरव चंद ॥

बाद मे लक्ष्मण भी रामचंद्र के साथ वन जाने के लिए सफल हठ करते है। जब रामचंद्र उन्हे माता-पिता की सेवा करने के लिए अयोध्या मे रोकना चाहते है और लक्ष्मण को साथ वन चलने के दुष्परिणामों की चर्चा करते है तो लक्ष्मण बड़े सरल स्वभाव से कहते है

दीन्हि मोहि सिख नीकि गोसाईं। लागि अगम अपनी कदराई ॥
नरबर धीर धरम धुर धारी। निगम नीति कहुँ ते अधिकारी ॥
मैं सिसु प्रभु सनेहँ प्रतिपाला। मंदरु मेरु कि लेहिं मराला ॥
गुर पितु मातु न जानउँ काहू। कहउँ सुभाउ नाथ पतिआहू ॥

जहँ लगि जगत सनेह सगाई। प्रीति प्रतीति निगम निजु गाई ॥
मोरें सबइ एक तुम्ह स्वामी। दीनबधु उर अंतरजामी ॥
धरम नीति उपदेसिअ ताही। कीरति भूति सुगति प्रिय जाही ॥
मन क्रम वचन चरन रत होई। कृपर्गसिधु परिहरिअ कि सोई ॥

लक्ष्मण को निगम-नीति से कोई आसक्ति नही, वह तो रामचद्र के स्नेह मे सरावोर है। वह स्पष्ट कहते है कि वह गुरु-माता-पिता किसी-को नही जानते और उनका सारा स्नेह-सबध रामचद्र से है। इसलिए वह छोडे नही जा सकते। रामचद्र की ही हार होती है और वह विवश होकर लक्ष्मण को भी वन चलने का आदेश देते है। भाई और मातृ-तुल्या भाभी की सेवा करने के लिए वह अपनी पत्नी को भी अयोध्या मे छोड देते है और सगे भाई, सैनिक, अगरक्षक, मत्री और सेवक का सयुक्त कार्य करते है। वन-वन रामचन्द्र के साथ भटकते है और दु ख-सुख मे उनकी छाया की तरह रहते है। रामचद्र के सम्मान के विरुद्ध कोई वात कहे, तो उसका प्रतिकार करने के लिए लक्ष्मण सवसे पहले तैयार हो जाते है, चाहे वह जनक हो या परशुराम। यदि कोई रामचद्र के प्रति अपने कर्तव्य मे विलव करे तो उसका दमन करने के लिए लक्ष्मण तुरत चल पडते है। समुद्र और सुग्रीव, दोनो को उनके क्रोध का भाजन होना पडा। इसलिए जव उन्हे शक्ति-वाण लगा और वह मूच्छित हो गये तो रामचद्र फूट-फूटकर रोये। लक्ष्मण के चरित्र का पूरा विश्लेषण सभव नही, पर एक चौपाई मे सक्षिप्त विवरण दिया जा सकता है

सेवत लखन सीय रघुबीरहि। जिमि अबिबेकी पुरुप सरीरहि ॥

भरत के भ्रातृत्व की भी एक झाकी लीजिये। जव महाराज दशरथ के देहावसान के वाद भरत अयोध्या वापस आते है और पिता की मृत्यु का समाचार सुनते है तो वह वडे दु खी होते है, लेकिन जव वह रामचन्द्र के वन-गमन का समाचार सुनते है तो और भी दु खी होते है •

भरतहि बिसरेउ पितु मरन सुनत राम बन गौनु ।
हेतु अपनपउ जानि जिअँ थकित रहे धरि मौनु ।।

वह बहुत ग्लानि और दुःख से भर जाते है और वन जाकर उनको वापस लाने का निर्णय करते है। उनके मन मे उस राज्य का भोग करने की तनिक भी लालसा नही है जिसपर रामचंद्र का अधिकार था और यह त्याग और उदात्त भावना लोभ और स्वार्थ को परास्त करती है एवं भरत भ्रातृ-प्रेम का ऊचे-से-ऊचा आदर्श सामने रखते है :

बन सिय रामु समुझि मन माही। सानुज भरत पयादेहिं जाही ।।
देखि सनेहु लोग अनुरागे। उतरि चले हय गज रथ त्यागे ।।

उनके स्नेह का यह परिचय चित्रकूट के सवाद में मिलता है। उनको सेना के साथ और दल-बल के साथ आते देखकर पहले निषाद को और बाद मे लक्ष्मण को शका होती है कि वह शायद रामचद्र को समाप्त कर अकंटक राज्य करने के लिए चित्रकूट आये है, किन्तु रामचद्र को इस प्रकार की शका एक क्षण के लिए भी नही होती और वह कहते हैं :

भरतहि होइ न राजमदु बिधि हरि हर पद पाइ।
कबहुँ कि काँजी सीकरनि छीरसिंधु बिनसाइ ।।
कहत भरत गुन सीलु सुभाऊ। पेम पयोधि मगन रघुराऊ ।।

जिस राज्य और अधिकार के लिए आज के युग मे भाई-भाई एक-दूसरे के शत्रु बन जाते हैं, उसीको गेद बनाकर राम भरत के सामने फेकते है और भरत राम के सामने।

राम और लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न, राम और भरत और सहोदर लक्ष्मण और शत्रुघ्न के पारस्परिक स्नेह का आदर्श इतना ऊँचा है कि इसीने युगो तक भारत की प्रसिद्ध सयुक्त परिवार-परपरा को सुरक्षित रखा था।

पति-पत्नी

रामचरितमानस एकपत्नीव्रत और पातिव्रत के आदर्शो से परिपूर्ण है। यह आदर्श रामचरित-सबंधी संस्कृत के प्राचीन ग्रंथो और लोक-

कथाओं तथा मानस की स्वय की लोकप्रियता के कारण भारतीय जनता के मन मे पूरी तरह प्रतिष्ठित है। मानस मे पहला पारिवारिक चित्रण महाराज दशरथ और उनकी रानियो का मिलता है। यद्यपि आरभ मे उनमे एक-दूसरे के प्रति स्नेह और त्याग की भावना पाई जाती है, किन्तु अयोध्याकाड के आरभ मे ही बहुपत्नी-व्रत की परपरा का सघर्ष स्पष्ट हो जाता है। तीन सपत्नियो मे चाहे कितनी ही एकता हो, अधिकार के सदर्भ मे उनकी मातृ-भावना सघर्ष पैदा करती है, क्योकि वे अपने पुत्र को उत्तराधिकारी बनाना चाहती है। छोटी और सुदर पत्नी के हठ के सामने पति की स्वतन्त्रता, दृढता और विवेक व्यर्थ हो जाते हैं। अपने मन के विरुद्ध भी राजा दशरथ पत्नी की इच्छा के सामने किंकर्तव्य-विमूढ हो जाते है :

सुरपति बसइ बाहँबल जाकें। नरपति सकल रहहिं रुख ताकें॥
सो सुनि तिय रिस गएउ सुखाई। देखहु काम प्रताप बडाई॥
सूल कुलिस असि अँगवनिहारे। ते रतिनाथ सुमन सर मारे॥
सभय नरेसु प्रिया पहिं गएऊ। देखि दसा दुखु दारुन भएऊ॥

कैकेयी को प्रसन्न करने के लिए दशरथ उचित-अनुचित सबकुछ करने के लिए तैयार है। वह कैकेयी से कहते हैं .

कहु केहि रकहि करौं नरेसू। कहु केहि नृपहि निकासौं देसू॥
सकउँ तोर अरि अमरउ मारी। काह कीट बपुरे नर नारी॥
जानसि मोर सुभाउ बरोरू। मनु तव आनन चंद चकोरू॥
प्रिया प्रान सुत सरबसु मोरें। परिजन प्रजा सकल बस तोरें॥

कैकेयी का यह हठ बडा भयकर होता है और वह दशरथ के प्राण लेकर ही छोडता हैं। रामचरितमानस मे राम के मर्यादा-पुरुषोत्तम होने के नाते उनके व्यवहार मे भारतीय आदर्श के एकपत्नीव्रत का पूरा पालन पाया जाता है, उसके साथ-ही-साथ सभवत उसमे दशरथ के बहु-विवाह के अनुभव की प्रतिक्रिया है। राम का स्वय का चरित्र तो हर दृष्टि से श्रेष्ठ है, जिसका परिचय वन-गमन के समय सीता के साथ उनके सवाद

से मिलता है। सीता निर्णय करती है :

चलन चहत बन जीवननाथू। केहि सुकृती सन होइहि साथू ॥
की तनु प्रान कि केवल प्राना। बिधि करतबु कछु जाइ न जाना ॥

सीता के चलने का निश्चय स्वयं कौशल्या माता को धर्म-संकट में डाल देता है और वह स्वय राम के सामने यह समस्या प्रस्तुत करती है :

मै पुनि पुत्रबधू प्रिय पाई। रूप रासि गुन सील सुहाई ॥
नयन पुतरि करि प्रीति बढ़ाई। राखेउँ प्रान जानकिहि लाई ॥
कलपबेलि जिमि बहुबिधि लाली। सीचि सनेह सलिल प्रतिपाली ॥
फूलत फलत भयउ बिधि बामा। जानि न जाइ काह परिनामा ॥
पलँग पीठ तजि गोद हिंडोरा। सियँ न दीन्ह पगु अवनि कठोरा ॥
जिअनमूरि जिमि जोगवत रहऊँ। दीप बाति नहिं टारन कहऊँ ॥
सोइ सिय चलन चहति बन साथा। आयसु काह होइ रघुनाथा ॥

वह अपनी भूमिका मे वन के जीवन की कठिनता का वर्णन करके अयोध्या मे रहने या वन न जाने के लिए सीता को प्रेरित करती है, क्योकि वह उन्हे वन के कठिन जीवन के योग्य नही समझती। रामचद्र भी इस विचार से सहमत है और इसलिए कहते हैं :

मातु समीप कहत सकुचाहीं। बोले समउ समुझि मन माही ॥
राजकुमारि सिखावनु सुनहू। आनि भाँति जियँ जनि कछु गुनहू ॥
आपन मोर नीक जौ चहहू। बचनु हमार मानि गृह रहहू ॥
आयसु मोर सासु सेवकाई। सब बिधि भामिनि भवन भलाई ॥

इस प्रकार वे सीता को एक विशेष कार्य भी दे देते है। जब उनकी अनुपस्थिति मे माता कौशल्या को कष्ट हो तो जानकी उन्हे आश्वासन, सुख और शाति दे, परंतु सीता इस विचार से सहमत नही है। रामचद्र उन्हे बहुत भय दिखाते है। वनवास की कठिनता बड़े स्पष्ट शब्दो मे उनके सामने रखते है, लेकिन :

सुनि मृदु बचन मनोहर पिय के। लोचन ललित भरे जल सिय के ॥
सीतल सिख दाहक भई कैसें। चकइहि सरद चंद निसि जैसें ॥

उतरु न आव बिकल बैदेही । तजन चहत सुचि स्वामि सनेही ॥
बरबस रोकि बिलोचन बारी । धरि धीरजु उर अवनि कुमारी ॥
लागि सासु पग कह कर जोरी । छमबि देवि बड़ि अविनय मोरी ॥
दीन्हि प्रानपति मोहि सिख सोई । जेहि बिधि मोर परम हित होई ॥
मैं पुनि समुझि दीखि मन माहीं । पियबियोग सम दुखु जग नाहीं ॥

और यहा वह बडे विश्वास और बडी श्रद्धा के साथ पति-पत्नी के सबध पर अत्यत सुदर और भावपूर्ण विचार प्रकट करती हैं :

मातु पिता भगिनी प्रिय भाई । प्रिय परिवारु सुहृद समुदाई ॥
सासु ससुर गुरु सजन सहाई । सुत सुंदर सुसील सुखदाई ॥
जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते । पिय बिनु तियहि तरनिहुँ ते ताते ॥
तनु धनु धामु धरनि पुर राजू । पति विहीन सबु सोक समाजू ॥
भोग रोग सम भूषन भारू । जम जातना सरिस संसारू ॥
प्राननाथ तुम्ह बिनु जग माहीं । मो कहुँ सुखद कतहुँ कछु नाहीं ॥
जिय बिनु देह नदी बिनु वारी । तैसिअ नाथ पुरुष बिनु नारी ॥
नाथ सकल सुख साथ तुम्हारें । सरद बिमल बिधु बदनु निहारें ॥

साथ ही वह यह भी निश्चय प्रकट करती है कि वन के जो दुख रामचद्र ने उनके सामने रखे थे, वस्तुत सुख मे परिणत हो जायगे, क्योकि सुख और दुख तो वस्तुत मन की कल्पना है। उनके लिए रामचद्र का भय-दर्शन व्यर्थ हो जाता है। वह कहती है

वन दुःख नाथ कहे बहुतेरे । भय बिषाद परिताप घनेरे ॥
प्रभु वियोग लवलेस समाना । सव मिलि होहिं न कृपानिधाना ॥
अस जियँ जानि सुजान सिरोमनि । लेइअ संग मोहि छाड़िअ जनि ॥
विनती बहुत करौं का स्वामी । करुनामय उर अतरजामी ॥

राखिअ अवध जो अवधि लगि रहत जानिअहिं प्रान ।
दीनबधु सुन्दर सुखद सील सनेह निधान ॥

वह अपना कार्यक्रम भी वता देती है कि किस प्रकार प्रवास-काल मे रामचद्र की सेवा करेंगी और उनके ससर्ग मे अपार शाति-सुख का

अनुभव करेगी तथा उनके मन मे किसी भी प्रकार का भय नही होगा। उनकी निष्ठा प्रवल है और उनका निश्चय अटल है, इसलिए रामचंद्र के सामने कोई दूसरा विकल्प ही नही रह जाता और वह कहते है :

कहेउ कृपालु भानुकुल नाथा। परिहरि सोचु चलहु बन साथा॥'
नहि बिषाद कर अवसरु आजू। बेगि करहु बन गवन समाजू॥

सीता वन जाती हैं, उन्हे कष्ट भी होता है। रावण उन्हे हरकर ले जाता है, पर वह अपने दृढ चरित्र के द्वारा अपने पातिव्रत धर्म की रक्षा करती है और भारतीय समाज के समाने सदा के लिए पातिव्रत का ऊंचा आदर्श प्रस्तुत करती है।

गुरु

मानस का आरभ विस्तृत गुरु-वंदना से ही होता है और बीच-बीच मे जहा भी अवसर मिला है, गुरु का महत्त्व बताया गया है। इस संवध में गुरु-वदना का निम्न उद्धरण वहुत महत्त्वपूर्ण है :

बंदौं गुरुपद कंज कृपासिंधु नर रूप हरि।
महा मोह तम पुंज जासु बचन रबि कर निकर॥

बंदौं गुरु पद पदुम परागा। सुरुचि सुबास सरस अनुरागा॥
अमिय मूरिमय चूरन चारू। समन सकल भव रुज परिवारू॥
सुकृति संभु तन विमल विभती। मंजुल मंगल मोद प्रसूती॥
जन मन मंजु मुकुर मल हरनी। किएँ तिलक गुन गन बस करनी॥
श्रीगुर पद नख मनि गन जोती। सुमिरत दिव्य दृष्टि हियँ होती॥

गोस्वामीजी गुरु के कमलवत् चरणो के पराग को सुरुचिपूर्ण, सुगंधित, रस और स्नेह से सिक्त मानते है। जीवन के समस्त शारीरिक (और विशेषकर मानसिक) रोगो को दूर करने मे गुरु के चरणो की धूलि आयुर्वेदीय औषधि (चूर्ण) का काम अमृत-मूल की तरह करती है। पुण्य-रूपी शकर के शरीर की वह विभूति है, जो सर्वत्र आनद-मगल का सचार करती है। जनता के मन का विकार दूर करने मे गुरु की वाणी

अद्भुत प्रभाव रखती है। गुरु के चरणो के स्मरण से मानव की दृष्टि दिव्य हो जाती है और वह सत्-जगत् का भेद समझने लगता है।

रामचन्द्र तथा उनके भाई गुरु के घर जाकर शिक्षा प्राप्त करते हैं :

गुर गृहँ गए पढ़न रघुराई । अलप काल विद्या सब पाई ॥
जाकी सहज स्वास श्रुति चारी । सो हरि पढ़ यह कौतुक भारी ॥
विद्या विनय निपुन गुन सीला । खेलहि खेल सकल नृप लीला ॥

इसके बाद विश्वामित्र दूसरे गुरु के रूप मे उन्हें प्राप्त होते हैं। उनके साथ जाकर रामचन्द्र व्यावहारिक रूप से अपना पराक्रम दिखाते है और राक्षसो से विश्वामित्र के यज्ञ को निर्विघ्न करते है और उनके साथ देश-यात्रा द्वारा व्यापक अनुभव प्राप्त करते है। राम और भरत सवाद मे वशिष्ठ के प्रति उनका आदर और उनकी श्रद्धा बहुत स्पष्ट व्यक्त होती है। महर्षि वाल्मीकि के प्रति भी रामचंद्र इसी प्रकार का गुरु-भाव दिखलाते है और कहते हैं

मुनि तापस जिनते दुख लहहीं । ते नरेश बिनु पावक दहहीं ॥
मगल मूल विप्र परितोषू । दहइ कोटि कुल भूसुर रोषू ॥

विप्र की प्रशसा यहा उसकी व्यक्तिगत प्रशसा नही है, बल्कि विद्या का ही महत्त्व दिखलाया है। इसका चरमोत्कर्ष तब होता है जब रामचद्र लका से लौटकर आते है और उनकी अद्भुत विजय पर उनकी माताए आश्चर्य प्रकट करती हैं। विमान से उतरकर वह वामदेव, वशिष्ठ आदि गुरुजनो के दर्शन करते है और

धाइ धरे गुर चरन सरोरुह । अनुज सहित अति पुलक तनोरुह ॥
भेटि कुसल बूझी मुनिराया । हमरे कुसल तुम्हारिहि दाया ॥
सकल द्विजन्ह मिलि नायउ माथा । धर्म धुरधर रघुकुल नाथा ॥

उनका यह व्यवहार केवल औपचारिक प्रदर्शन ही नही, वरन् नित्य की प्रक्रिया है

प्रातकाल उठि कै रघुनाथा । मातु पिता गुरु नावहि माथा ॥
आयसु पाइ करहि पुर काजा । देखि चरित हरषै मन राजा ॥

वशिष्ठ का कार्य भी केवल अपने आश्रम मे शिक्षा देने तक ही सीमित नही है, वरन् हर दुख-सुख की परिस्थिति मे सांत्वना और समन्वय के रूप मे वह अपने कर्त्तव्य का निर्वाह करते है :

कहहिं बसिष्ठु धरम इतिहासा । सुनहि महीसु सहित रनिवासा ॥
मुनि मन अगम गाधिसुत करनी । मुदित बसिष्ठ बिपुल बिधि बरनी ॥
बोले बामदेउ सब साची । कीरति कलित लोक तिहुँ माची ॥
सुनि आनंदु भयउ सब काहू । राम लखन उर अधिक उछाहू ॥

परिवार और व्यक्ति के जीवन मे गुरु के इस महत्त्व की स्वीकृति रामचद्र ने बडे अद्भुत ढग से की है और लका के युद्ध मे अपने सहायक मित्रो के सामने उस महिमा का परिचय देकर रामचद्र ने कहा है :

पुनि रघुपति सब सखा बोलाए । मुनि पद लागहु सकल सिखाए ॥
गुरु वसिष्ट कुल पूज्य हमारे । इन्ह की कृपाँ दनुज रन मारे ॥

इस प्रकार हम देखते है कि गुरु के महत्त्वपूर्ण पद की प्रतिष्ठा रामचरितमानस मे पूरी तरह पाई जाती है ।

स्वामी और सेवक

सेव्य भावना नवधा भक्ति का एक मुख्य अग है । रामचरितमानस मे यह भावना देवताओं, मनुष्यो और पक्षियो के स्तर पर सर्वत्र पाई जाती है । रामचन्द्र शबरी से नवधा भक्ति का विवेचन करते हुए कहते हैं :

गुरु पद पंकज सेवा तीसरि भगति अमान ।

शकर अपनेको भगवान् राम का सेवक कहते है। हनुमान् तो सेवको मे सबसे महान् है । लक्ष्मण सीता के सेवक है । सुग्रीव, अगद, विभीषण और जामवत आदि मे भी सत्कार के साथ सेवा-भावना है । विना इस प्रकार की सेवा-भावना के समाज का सगठन नही बन सकता । यह सेवा-भावना शासक-भावना नही है ।

भगवान् राम के जन्म लेते ही उनकी सेवा करने के लिए अनेक

देवताओं ने वहा जन्म लिया। छोटे भाई तो सेवक थे ही, कैकेयी तक ने कहा है ·

जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर कुल रीति सुहाई॥

और इस सेवा-भावना के कारण उनमे राज्य के लिए प्रतिद्वद्विता नही होती। राम राज्य छोडकर वन जाते है। लक्ष्मण तुरन्त उनके साथ चल देते है और राज-काज मे पिता की सहायता करने के लिए वहां नहीं टिकते। भरत ननिहाल से लौटकर पिता की अत्येष्टि के बाद सबसे पहले रामचद्र को वन से वापस लाने का प्रयास करते है और उसमें असफल होने पर उनकी चरण-पादुका लाकर उन्हे ही सिहासनारूढ करते है, स्वय ट्रस्टी के रूप मे काम करते है और रामचद्र के वापस आने पर उनका राज्य उन्हे समर्पित करते हैं। शुद्ध सेवा-भावना मे अधिकार की प्रतिद्वद्विता के लिए स्थान ही कहा है!

सेवक का कोई अधिकार नही होता। वह तो सेव्य को सेवा से वश मे करता है। स्वय भरत इसी चिता मे रहते है:

केहि बिधि होइ राम अभिषेकू। मोहि अवकलत उपाउ न एकू॥
अवसि फिरहि गुर आयसु मानी। मुनि पुनि कहब राम रुचि जानी॥
मातु कहेहुँ बहुरहि रघुराऊ। राम जननि हठ करबि कि काऊ॥
मोहि अनुचर कर केतिक बाता। तेहि महँ कुसमउ बाम बिधाता॥
जौ हठ करउँ त निपट कुकरमू। हर गिरि तें गुर सेवक धरमू॥

वह अपनेको अनुचर ही मानते है। उन्हे यह विश्वास नहीं है कि भगवान् राम उनके-जैसे अनुचर के कहने पर अयोध्या वापस आयेंगे। वह हठ भी नही करना चाहते, क्योकि सेवक स्वामी से हठ नही कर सकता।

भरत को तो अपने हठ पर विश्वास नही था, क्योकि वह सेवा-धर्म को कैलासपर्वत से भी महान् और गुरुतर समझते थे।

इसी प्रसग मे भरत ने एक और सिद्धात की बात कही है और यहां उन्होने सभावित हठ के मार्ग का दृढतापूर्वक त्याग किया है.

अब करुनाकर कीजिअ सोई। जन हित प्रभु चित छोभु न होई॥

जो सेवकु साहिबहि सँकोची। निज हित चहइ तासु मति पोची ॥
सेवक हित साहिब सेवकाई। करै सकल सुख लोभ बिहाई ॥

जो सेवक स्वामी को संकोच मे डालकर अपने मन की बात करता है वह निश्चय ही अल्पबुद्धि है, क्योकि सेवक का हित तो केवल इस बात में है कि वह स्वामी की सेवा हर प्रकार के सुख तथा लोभ को त्याग करके करे।

एक दूसरे प्रसंग मे गोस्वामीजी ने कहा है:

सेइय भानु पीठ उर आगी। स्वामी सेइय सब छल त्यागी ॥

स्वामी की सेवा सच्चे भाव से और छल-कपट या स्वार्थ का पूरी तरह त्याग करके करनी चाहिए। सेवा के ये आदर्श धर्म की बुनियाद पर आधारित हैं। समाज की नीव को पक्का करने में इनका बहुत बडा हाथ है।

सीता की सेवा-भावना का वर्णन रामचरितमानस मे और भी मार्मिक ढंग से किया गया है·

जनकसुता तब उर धरि धीरा। नील नलिन लोचन भरि नीरा ॥
मिली सकल सासुन्ह सिय जाई। तेहि अवसर करुना महि छाई ॥
लागि लागि पग सबनि सिय भेंटति अति अनुराग।
हृदयँ असीसहि पेम बस रहिअहु भरी सोहाग ॥

और बाद मे:

सीयँ सासु प्रति वेष बनाई। सादर करइ सरिस सेवकाई ॥
लखा न मरमु राम बिनु काहूँ। माया सब सिय माया माहूँ ॥
सीयँ सासु सेवा बस कीन्ही। तिन्ह लहि सुख सिख आसिष दीन्ही ॥

सीता इस तत्परता से तीनो सासुओ की सेवा करती है, मानो उनके तीन माया-शरीर हो और सीता प्रत्येक सासु की लगातार सेवा कर रही हो। उनकी सेवा से तीनों राजमाताएँ उनके वश मे हो जाती हैं और उन्हे शिक्षा, सुख और आशीर्वाद देती है।

उनकी निश्छल सेवा-भावना से कैकेयी के मन मे भी अपने विचार-

हीन कार्य पर बड़ा पछतावा हुआ। यह द्वेष पर प्रेम की और हिंसा पर अहिंसा की विजय थी।

लक्ष्मण तो भगवान् राम के अलौकिक सेवक रहे है। वह वन चलने के समय सरल भाव से सोचते है

मो कहुँ काह कहब रघुनाथा। रखिहहिं भवन कि लेहहिं साथा।

रामचद्र उन्हे मना करते हैं

गुर पितु मातु प्रजा परिवारू। सब कहुँ परइ दुसह दुख भारू॥
रहहु करहु सब कर परितोषू। नतरु तात होइहि बड़ दोषू॥
जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृपु अवसि नरक अधिकारी॥

पर लक्ष्मण कहते हैं

गुर पितु मातु न जानउँ काहू। कहउँ सुभाउ नाथ पतिआहू॥
जहँ लगि जगत सनेह सगाई। प्रीति प्रतीति निगम निजु गाई॥
मोरें सबइ एक तुम्ह स्वामी। दीनबंधु उर अंतरजामी॥

फिर वह छाया की तरह भगवान् राम और सीता के साथ लग जाते है और उनकी सेवा मे लीन रहते है। ऐसा क्यो न हो ? उनकी माता सुमित्रा स्वय स्नेहाभिमानपूर्वक कहती है .

पुत्रवती जुबती जग सोई। रघुपति भगतु जासु सुतु होई॥
नतरु बाँझ भलि बादि बिआनी। राम बिमुख सुत तें हित हानी॥
तुम्हरेहिं भाग रामु बन जाहीं। दूसर हेतु तात कछु नाहीं॥
सकल सुकृत कर बड़ फलु एहू। राम सीय पद सहज सनेहू॥
रागु रोषु इरिषा मदु मोहू। जनि सपनेहुँ इन्ह के बस होहू॥

लक्ष्मण अपनी उदार माता की इस आज्ञा का पूर्ण रूप से पालन करते है।

हनुमान तो रामचद्र से पहली ही भेंट मे उनके सामने पूर्ण आत्म-समर्पण कर देते है और कहते है

जदपि नाथ बहु अवगुन मोरें। सेवक प्रभुहि परै जनि भोरें॥

भगवान् राम सेवको के अनन्य प्रिय हैं। हनुमान भी इस कठोर सेवा-

धर्म को निभाते है, क्योकि वह समझते है कि 'सबते सेवक धरमु कठोरा'। हनुमान केवल राम के ही सेवक नही है, अपितु सुग्रीव के भी सच्चे सेवक है और उनकी यह समान सेवा-भावना मुख्य रूप से सुग्रीव और राम के बीच सधि का कारण वनती है। हनुमान के व्यक्तित्व का विकास वस्तुत. तव होता है जब उनको सीता की खोज करने का एक निश्चित कार्य दिया जाता है और जब वह सुनते है कि उनका जन्म राम-काज के लिए ही है तो उनका हृदय आह्लाद से ऐसे भर जाता है, मानों उनका शरीर पर्वत-सा विशाल बन जाता है। फिर तो वह अपना व्यक्तित्व राम-काज के इस ध्येय मे खो देते हैं। कालनेमि को मारना, सुरसा से सफल प्रतियोगिता करना,. सीता माता के दर्शन करना, अकेले लका को जला देना और रावण-राम युद्ध मे अपूर्व पराक्रम दिखाना आदि उनकी सेवा-भावना के उदाहरण हैं। उनका यह प्रवल विश्वास है और इसे वह विभीषण से व्यक्त करते है :

सुनहु विभीषन प्रभु कै रीती। करहिं सदा सेवक पर प्रीती ॥
कहहु कवन मै परम कुलीना। कपि चचल सबही विधि हीना ॥
प्रात लेइ जो नाम हमारा। तेहि दिन ताहि न मिले अहारा ॥

सच्ची सेवा-भावना होने पर वर्ग या वर्ण का भेद मिट जाता है। तभी तो रामचद्र ने, हनुमान के सामने इस प्रकार कृतज्ञता प्रकट की जो एक स्वामी के लिए आदर्श की वात है। प्राय. अहकारी स्वामी सेवक से कार्य लेकर यह समझते है कि उसने तो आदर्श का पालन केवल इसलिए किया कि वह उसके लिए वेतन या भोजन पाता है। इस प्रकार के अहकारी शासक सेवक का सच्चा स्नेह और आदर प्राप्त नही कर सकते। और न उनमे नैतिकता की भावना ही भर पाते हैं। रामचद्र कहते है :

सुनु कपि तोहि समान उपकारी। नहिं कोउ सुर नर मुनि तनु धारी ॥
प्रति उपकार करौं का तोरा। सनमुख होइ न सकत मन मोरा ॥
सुनु सुत तोहि उरिन मै नाही। देखेउँ करि विचार मन माहीं ॥
पुनि पुनि कपिहि चितव सुरत्राता। लोचन नीर पुलक अति गाता ॥

सेवक-सेव्य की यह आत्मीयता भारतीय समाज मे हनुमान को एक देवता के स्थान पर प्रतिष्ठित कर देती है। उधर अहकारी शासक रावण माल्यवत और विभीषण को अपनी इच्छा के विरुद्ध बात करने पर पाद-प्रहार का उपहार देता है, जब

बुध पुरान श्रुति समत बानी। कही बिभीषन नीति बखानी॥
सुनत दसानन उठा रिसाई। खल तोहि निकट मृत्यु अब आई॥
जिअसि सदा सठ मोर जिआवा। रिपु कर पच्छ मूढ़ तोहि भावा॥
कहसि न खल अस को जग माही। भुज बल जाहि जिता मैं नाहीं॥
मम पुर बसि तपसिन्ह पर प्रीती। सठ मिलु जाइ तिन्हहि कहु नीती॥
अस कहि कीन्हेसि चरन प्रहारा। अनुज गहे पद बारहि बारा॥

और सुग्रीव ने तो सब सेवको को मृत्यु-दड का आदेश पहले ही दे दिया था। यदि सीता की खोज हनुमान न कर पाते तो उनके सभी साथी मृत्यु के घाट उतार दिये जाते। पर सेवक-सेव्य भावना के आदर्श रावण और सुग्रीव नही, भरत, लक्ष्मण हनुमान और राम है। इसीलिए परम ज्ञानवान् काकभुशुडि ने कहा था .

सेवक सेव्य भावहिनि भव न तरिय उरगारि।

: ३ :

परिवार के विघटनकारी तत्त्व

परिवार का एक आदर्श माता कौशल्या, आदर्श राजकुमार भरत और ज्येष्ठ भाई रामचद्र और त्यागमयी माता सुमित्रा और वधू उर्मिला एवं सबसे श्रेष्ठ अनुज लक्ष्मण के आत्मीयता और स्नेहपूर्ण व्यक्तित्व से निखरता है। इन लोगो के चरित्र से शताब्दियो के लिए भारतीय परिवार के संगठन के लिए प्रेरणा मिलती है, लेकिन ससार मे शायद ही कोई संगठन हो, जिसमे विघटन के कुछ-न-कुछ तत्त्व न पाये जाते हो। मानस में मंथरा, कैकेयी, विभीपण और सुग्रीव इस पारिवारिक विघटन के प्रेरक हैं। यद्यपि मानस का व्यापक दृष्टिकोण रचनात्मक है, फिर भी विघटन के कुछ तत्त्व उसमे आते है और उनका अध्ययन इस दृष्टि से आवश्यक है कि परिवार और समाज को एक सुगठित इकाई बनाने के लिए उन तत्त्वो से बचना चाहिए। वालकाड एक परिवार के निर्माण का स्तर व्यक्त करता है। बालको का जन्म, उनकी शिक्षा, उनका विकास और उनका विवाह मंगल और आनद-मगल की परिसीमा प्राप्त होती है। गोस्वामीजी के शब्दो मे :

जब तें रामु ब्याहि घर आए। नित नव मंगल मोद बधाए॥
भुवन चारि दस भूधर भारी। सुकृत मेघ बरषहिं सुख बारी॥

इसके बाद ही रामचद्र को युवराज-पद देने का प्रस्ताव दशरथ के मन मे आता है। गुरु वशिष्ठ की आज्ञा मिलती है और उसके लिए तैयारिया होने लगती है। राज्याभिषेक के इस समारोह से ही विघटन और संघर्ष का आरम्भ होता है। मथरा कैकेयी की दासी है और उसे केवल कैकेयी या कैकेयी-नदन भरत के हित का ध्यान है। इस हित की भी उसकी अपनी परिभाषा है। वह चाहती है कि राम राजा न होकर भरत

राज-पद पायें और इसलिए :

दीख मंथरा नगरु बनावा । मंजुल मंगल बाज बधावा ॥
पूछेसि लोगन्ह काह उछाहू । राम तिलकु सुनि भा उर दाहू ॥

उसे बडा दुख होता है और वह विचार करने लगती है कि किस प्रकार इस समारोह मे बाधा पडे । गोस्वामीजी ने उसे कुटिल पात्र बनाने मे कुछ भी कसर नही रक्खी है और ऐसे कुटिल पात्र ससार के महाकवियो की रचनाओ मे तथा जीवन मे भी प्राय पाये जाते हैं। उसके विचार और व्यवहार की रीति बहुत मनोवैज्ञानिक आधार पर सगठित है। वह इतनी गभीर मुद्रा लेकर, इतना बिलखती हुई, हाहाकार करती हुई कैकेयी के पास पहुचती है कि कैकेयी आश्चर्य मे पड जाती है ·

भरत मातु पहिं गइ बिलखानी । का अनमनि हसि कह हँसि रानी ॥
ऊतरु देइ न लेइ उसासू । नारि चरित करि ढारइ आँसू ॥
हँसि कह रानि गालु बड तोरें । दीन्ह लखन सिख अस मन मोरें ॥
तबहुँ न बोल चेरि बडि पापिनि । छाड़इ स्वास कारि जनु साँपिनि ॥

उसके इस प्रकार के स्वाग पर कैकेयी भयभीत हो जाती है । तरह-तरह की शका करने लगती है और उसका व्यक्तित्व अपेक्षाकृत अस्थिर हो जाता है । अपने पहले प्रश्न मे कैकेयी सगठन और पारिवारिक एकता की बात करती है और कुशल-मगल पूछती है ·

सभय रानि कह कहसि किन कुसल रामु महिपालु ।
लछनु भरतु रिपुदमनु सुनि भा कुबरी उर सालु ॥

लेकिन मथरा बडे ही कुटिल रूप से कैकेयी के स्नेहिल व्यक्तित्व पर आघात करती है

देखहु कस न जाइ सब सोभा । जो अवलोकि मोर मनु छोभा ॥
पूत बिदेस न सोचु तुम्हारें । जानति हहु बस नाहु हमारें ॥
नीद बहुत प्रिय सेज तुराई । लखहु न भूप कपट चतुराई ॥
सुनि प्रिय बचन मलिन मनु जानी । झुकी रानि अब रहु अरगानी ॥

कैकेयी के मन मे वह सपत्नीत्व की परम्परागत ईर्ष्या की आग

भडकाती है। स्वेच्छा से ननिहाल गये हुए भरत के वहा भेजे जाने के सबध मे सदिग्ध उद्देश्य का संकेत करती है :

पूत बिदेस न सोचु तुम्हारें। जानति हहु बस नाहु हमारें ॥

यद्यपि कैकेयी उसकी बात का प्रत्यक्ष विरोध करती है, तथापि उसके हृदय मे ईर्ष्या की चिनगारी सुलगने लगती है :

सुनि अस कबहुँ कहसि घरफोरी। तब धरि जीभ कढ़ावहुँ तोरी ॥
काने खोरे कूबरे कुटिल कुचाली जानि।
तिय बिसेषि पुनि चेरि कहि भरत मातु मुसुकानि ॥

इस प्रकार क्रोधपूर्ण विवेचन के बाद मुस्करा देना यह व्यक्त करता है कि वह धीरे-धीरे मंथरा के दृष्टिकोण की ओर बढने लगती है। मथरा उनके मन मे छिपी हुई ईर्ष्या की भावना को जानती है। पहले तो कैकेयी को विश्वास नही होता, क्योकि वह स्वय राम को अपने प्राणों से अधिक समझती है और उनके तिलक के अवसर पर मथरा के मन में शोक देखकर उसे क्रोध और आश्चर्य होता है। पर साथ ही कुछ कौतूहल भी जागृत हो जाता है और मंथरा की भावना का वह कारण जानना चाहती है। आरभ मे राम के तिलक के विरुद्ध कुछ भी सुनने के लिए वह तैयार नही थी, पर अब उसके मन मे इतनी प्रतिरोध-शक्ति नही रह गई। इसलिए वह पूछती है :

भरत सपथ तोहि सत्य कहु परिहरि कपट दुराउ।
हरष समय बिसमउ करसि कारन मोहि सुनाउ ॥

मंथरा इस अवसर से तुरत लाभ उठाती है और सीधे अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत न करके उनकी उत्सुकता को और जगाती है :

एकहिं बार आस सब पूजी। अब कछु कहब जीभ करि दूजी ॥
फोरै जोगु कपारु अभागा। भलेउ कहत दुख रउरेहि लागा ॥
कहहिं झूठि फुरि बात बनाई। ते प्रिय तुम्हहि करुइ मै माई ॥
हमहुँ कहबि अब ठकुरसोहाती। नाहिं त मौन रहब दिनु राती ॥

अपनी कुरूपता पर स्वय ग्लानि प्रकट करके वह उदार कैकेयी की

और सहानुभूति जीतने का प्रयास करती है और राज्य-सत्ता के प्रति उपेक्षा-भाव प्रकट करके अपनी निःस्वार्थता प्रमाणित करती है। वह अपनी दुर्भावना को कैकेयी के हित के लिए प्रेरित बताती है

करि कुरूप विधि परबस कीन्हा। बवा सो लुनिअ लहिअ जो दीन्हा॥
कोउ नृप होउ हमहि का हानी। चेरि छाड़ि अब होब कि रानी॥
जारै जोगु सुभाउ हमारा। अनभल देखि न जाइ तुम्हारा॥
तातें कछुक बात अनुसारी। छमिअ देबि बड़ि चूक हमारी॥

यह कहकर वह चुप हो जाती है और तब निर्बल व्यक्तित्व की कैकेयी धीरे-धीरे उसकी बात के प्रभाव मे आने लगती है। फिर मथरा अपना अंतिम अस्त्र चलाती है :

तुम्हहि न सोचु सोहाग बल निज बस जानहु राउ।
मन मलीन मुह मीठ नृपु राउर सरल सुभाउ॥

और उसके बाद मथरा अपने दृष्टिकोण को बहुत विस्तार से व्यक्त करती है·

चतुर गँभीर राम महतारी। बीचु पाइ निज बात सँवारी॥
पठए भरतु भूप ननिअउरें। राममातु मत जानब रउरें॥
सेवहिं सकल सवति मोहि नीकें। गरबित भरतमातु बल पी कें॥
सालु तुम्हार कौसिलहि माई। कपट चतुर नहिं होइ जनाई॥
राजहि तुम्ह पर प्रेमु बिसेषी। सवति सुभाउ सकइ नहिं देखी॥

पहले मथरा दशरथ के विरुद्ध प्रचार नही करती। उसका पहला आक्रमण कौशल्या की नीति के विरुद्ध होता है :

सालु तुम्हार कौसिलहि माई। कपट चतुर नहिं होइ जनाई॥
राजहि तुम्ह पर प्रेमु बिसेषी। सवति सुभाउ सकइ नहिं देखी॥
रचि प्रपचु भूपहि अपनाई। राम तिलक हित लगन धराई॥
यह कुल उचित राम कहुँ टीका। सबहि सोहाइ मोहि सुठि नीका॥

और,जब वह देखती है कि कैकेयी लगभग उसके वश मे आ गई है तो वह सत्य की साक्षी देकर शपथपूर्वक अपनी अतिम राय देती है :

रामहि तिलक कालि जौं भयऊ। तुम्ह कहुँ बिपति बीजु बिधि बयऊ॥
रेख खँचाइ कहउँ बलु भाषी। भामिनि भइहु दूध कइ माखी॥
जौं सुत सहित करहु सेवकाई। तौ घर रहहु न आन उपाई॥

अत मे एक पौराणिक प्रमाण देकर वह पूर्ण रूप से विजय प्राप्त कर लेती है और कैकेयी यह समझने लगती है कि सचमुच मथरा की बात सही है और इसी बात की सत्यता प्रमाणित करने के लिए वह कुछ अंधविश्वासपूर्ण प्रमाण का अनुमान करती है :

सुनु मंथरा बात फुरि तोरी। दहिनि आँखि नित फरकइ मोरी॥
दिन प्रति देखउँ राति कुसपनें। कहउँ न तोहि मोहबस अपनें॥
काह करौं सखि सूध सुभाऊ। दाहिन बाम न जानउँ काऊ॥
अपनें चलत न आजु लगि अनभल काहुक कीन्ह।
केहिं अघ एकहि बार मोहि दैअँ दुसह दुखु दीन्ह॥

परिणाम यह होता है कि कैकेयी मथरा को सखी मानने लगती है, अपने सीधे स्वभाव पर स्वय ही तरस खाने लगती है और इस बात पर आश्चर्य करती है कि उसके साथ इस प्रकार का दुर्व्यवहार क्यो किया जा रहा है। अब तो मथरा को भी विजयोन्माद मे आकर षड्यंत्र करने का अवसर मिलता है :

पूंछेउँ गुनिन्ह रेख तिन्ह खाँची। भरत भुआल होहिं यह साँची॥
भामिनि करहु त कहौं उपाऊ। है तुम्हरी सेवा बस राऊ॥

कैकेयी बिल्कुल निरीह बन जाती है और मंथरा फूट के विष की मात्रा बढ़ाती जाती है। वह विधि भी बता देती है, जिससे कैकेयी का काम बने और वह विधि :

दुइ बरदान भूप सन थाती। मागहु आजु जुड़ावहु छाती॥
सुतहि राजु रामहि बनबासू। देहु लेहु सब सवति हुलासू॥

कैकेयी बिल्कुल इसी प्रकार करती है और राजा दशरथ अपनी प्रतिज्ञा से डिगना नही चाहते, साथ ही राम को बिना किसी अपराध के वन भेजना भी नही चाहते। इसलिए उनके मन मे बड़ा सघर्ष होता है

वह राम को वन जाने के लिए आदेश तो दे देते हैं, पर उससे उत्पन्न वेदना को सहन नहीं कर पाते और उनका प्राणांत हो जाता है। राम के राज्याभिषेक के विरुद्ध जो षड्यन्त्र हुआ, वह दशरथ के लिए घातक हुआ और इसकी प्रतिक्रिया और भी व्यापक हो सकती थी।

वस्तुत इस षड्यन्त्र का कोई आधार नही था। परिवार या समाज की एकता मे विघ्न डालनेवाले लोगो की बातें प्राय. आधारपूर्ण नहीं होतीं, लेकिन ईर्ष्या, द्वेष, भय या आशंका के वशीभूत होकर लोग उनपर विश्वास करने लगते हैं और परिवार मे फूट पड़ जाती है। यदि परिवार की इस फूट मे फूट के समर्थक और विरोधी गुट बन जाय तो परिवार की फूट से ही समाज मे फूट पड जाती है, और देशो के पारस्परिक वैमनस्य से ससार दो गुटो मे बट जाता है। यदि महाराज दशरथ के इन पारिवारिक सघर्षों पर अयोध्यावासी दो वर्गों मे बट जाते तो उसका बहुत भयकर परिणाम निकलता। पर मानस मे इसका अवसर ही नहीं आया। विघटन के इस प्रवाह को त्यागमूर्ति भरत ने वही रोक दिया। अयोध्या के समस्त सभासदो, विप्रो और महाजनो को लेकर वह स्वय रामचद्र को वापस लाने गये और उनके इस उद्देश्य मे सारी अयोध्यापुरी सगठित हो गई।

इस पृष्ठभूमि मे यदि हम सुग्रीव और बाली के संघर्ष को देखते हैं तो उसकी प्रतिक्रिया उनके राज्य के बाहर भी पाते हैं और अंत में रामचद्र को हस्तक्षेप करना पडता है; पर रामचद्र इस पारिवारिक विघटन को युवराज का पद अगद को देकर सगठन के रूप में परिवर्तित कर देते हैं।

रावण के सघर्ष मे इस प्रकार का समझौता संभव नही था, क्योंकि वह बहुत अभिमानी था और उसके आत्मीय मेघनाद, कुभकर्ण तथा दूसरे सहायक या तो अभिमानी थे, या परवश थे। वहा नीति की बुनियाद नही टिक सकती थी, इसीलिए रावण के समूचे पक्ष का नाश करना अनिवार्य हो गया।

: ४ :

धार्मिक परंपरा एवं सामाजिक स्थिति

हमारे प्राचीन समाज मे गुरु या पुरोहित, वानप्रस्थ तथा सन्यासी धर्म का प्रचार करते रहते थे और हमारी सारी शिक्षा-व्यवस्था आध्यात्मिक विचारो पर आधारित थी। रामचरितमानस मे भी धर्म और शिक्षा की अलग संस्थाओ का वर्णन नही है। आज से एक-दो शताब्दी पहले यूरोप और अमरीका मे भी धर्म और शिक्षा का संगठन एक ही होता था। आज भी ईसाई धर्म के मतावलवी संसार के बहुत-से देशो में अनेक शिक्षा-सस्थाए चलाते है। वौद्ध भिक्षुओ ने लका और वर्मा आदि देशो मे अपने प्रयास से साक्षरता और शिक्षा का स्तर ऊंचा कर रखा है।

धर्म की इस शिक्षा के तीन मुख्य केंद्र हमारी धार्मिक परंपरा मे रहते हैं—पहला गुरुकुल, दूसरा ऋषि-मुनियों के आश्रम और तीसरा सत्सग-सभा। रामचरितमानस की कथा का विकास भारद्वाज मुनि के आश्रम से होता है :

> भरद्वाज मुनि बसहिं प्रयागा। तिन्हहि रामपद अति अनुरागा॥
> तापस सम दम दया निधाना। परमारथ पथ परम सुजाना॥
> माघ मकरगत रबि जब होई। तीरथपतिहिं आव सब कोई॥
> देव दनुज किंनर नर श्रेनीं। सादर मज्जहिं सकल त्रिबेनी॥
> पूजहिं माधव पद जलजाता। परसि अखय बटु हरषहिं गाता॥
> भरद्वाज आश्रम अति पावन। परम रम्य मुनिबर मन भावन॥
> तहाँ होइ मुनि रिषिय समाजा। जाहिं जे मज्जन तीरथ राजा॥
> मज्जहिं प्रात समेत उछाहा। कहहिं परसपर हरि गुन गाहा॥

इस वर्णन में हम देखते हैं कि तीर्थ-स्थान मे स्नान, अक्षयवट की पूजा, हरिचरित-चर्चा और तात्त्विक ब्रह्म-निरूपण आदि का विवेचन है,

तुम्ह गुर बिप्र धेनु सुर सेबी। तसि पुनीत कौसल्या देबी ॥
सुकृती तुम्ह समान जग माहीं। भयउ न है कोउ होनेउ नाहीं ॥
तुम्ह तें अधिक पुन्य बड़ काकें। राजन राम सरिस सुत जाकें ॥
बीर बिनीत धरम ब्रत धारी। गुन सागर बर बालक चारी ॥
तुम्ह कहुँ सर्ब काल कल्याना। सजहु बरात बजाइ निसाना ॥

यहा वशिष्ठ की प्रसन्नता, उनका आशीर्वाद और उनका आदेश, तीनो ही स्पष्ट रूप से धार्मिक तथा सामाजिक आचरण एवं परंपरा के आदर्श है। दशरथ के देहावसान के बाद वशिष्ठ गुरु-पद के साथ-साथ राज्य की सर्वोच्च सत्ता के रूप मे भी कार्य करते हैं :

तब बसिष्ठ मुनि समय सम कहि अनेक इतिहास।
सोक नेवारेउ सबहि कर निज बिग्यान प्रकास ॥

तेल नावँ भरि नृप तनु राखा। दूत बोलाइ बहुरि अस भाषा ॥
धावहु बेगि भरत पहिं जाहू। नृप सुधि कतहुँ कहहु जनि काहू ॥
एतनेइ कहेहु भरत सन जाई। गुर बोलाइ पठयउ दोउ भाई ॥

और भरत के आने के बाद फिर वसिष्ठ अपने कर्त्तव्य का पालन इस प्रकार करते है :

सुदिनु सोधि मुनिबर तब आए। सचिव महाजन सकल बोलाए ॥
बैठे राजसभाँ सब जाई। पठए बोलि भरत दोउ भाई ॥
भरतु बसिष्ठ निकट बैठारे। नीति धरममय बचन उचारे ॥
प्रथम कथा सब मुनिबर बरनी। कैकइ कुटिल कीन्हि जसि करनी ॥
भूप धरमब्रतु सत्य सराहा। जेहिं तनु परिहरि प्रेमु निबाहा ॥
कहत राम गुन सील सुभाऊ। सजल नयन पुलकेउ मुनिराऊ ॥
बहुरि लखन सिय प्रीति बखानी। सोक सनेह मगन मुनि ग्यानी ॥

इस प्रकार रामचरितमानस मे सब कार्यो में धार्मिक सस्कारों की प्रधानता आदर्श के रूप मे बताई गई है, कही गुरु के माध्यम से, कही परिव्राजक भक्त नारद के माध्यम से। नारद नित्य भ्रमण करते रहते हैं। कभी पार्वती का भाग्य देखते हैं और हिमाचल की चिंता दूर

करते हैं, तो कभी पाप के पथ पर जानेवाले व्यक्ति के मार्ग मे बाधा उपस्थित करके उसे पाप से बचा लेते हैं। धार्मिक विवेचन का सबसे सुदर वर्णन वाल्मीकि ऋषि के आश्रम मे और अत्रि ऋषि के आश्रम में होता है। इसका विवेचन यथा-स्थान किया जायगा।

अपने समय की सामाजिक स्थिति का वर्णन गोस्वामीजी ने कलियुग की कुरीति के रूप मे किया है। हम इसका थोडा-सा विवरण दे रहे है, क्योकि यह इस समय के भारतीय सामाजिक सगठन के स्वरूप का एक स्पष्ट और व्यग्यात्मक चित्र प्रस्तुत करता है। गोस्वामीजी कहते हैं

कलिमल ग्रसे धर्म सब लुप्त भए सदग्रंथ।
दभिन्ह निज मति कल्पि करि प्रगट किए बहु पंथ॥
भए लोग सब मोहवस लोभ ग्रसे सुभ कर्म।
सुनु हरिजान ग्यान निधि कहउँ कछुक कलिधर्म॥

कलियुग मे प्राय सभी लोग पाप मे लीन है और अच्छे-अच्छे आध्यात्मिक ग्र थ लुप्त हो गए हैं। लोगो ने दभवश अनेक प्रकार के पथो का सचालन किया है। लोग प्राय. मोह और लोभ के वश मे है। आगे वह लिखते हैं

बरन धर्म नहिं आश्रम चारी। श्रुति बिरोध रत सब नर नारी॥
द्विज श्रुति बेचक भूप प्रजासन। कोउ नहिं मान निगम अनुसासन॥
मारग सोइ जा कहुँ जोइ भावा। पंडित सोइ जो गाल बजावा॥
मिथ्यारंभ दंभ रत जोई। ता कहुँ संत कहइ सब कोई॥
सोइ सयान जो परधन हारी। जो कर दंभ सो बड़ आचारी॥
जो कह झूंठ मसखरी जाना। कलिजुग सोइ गुनवत बखाना॥
निराचार जो श्रुति पथ त्यागी। कलिजुग सोइ ग्यानी सो बिरागी॥
जाके नख अरु जटा बिसाला। सोइ तापस प्रसिद्ध कलिकाला॥

असुभ बेष भूषन धरें भच्छाभच्छ जे खाहिं।
तेइ जोगी तेइ सिद्ध नर पूज्य ते कलिजुग माहिं॥

चारो वर्णो और आश्रमो की मर्यादा का पालन नही होता। सभी

नर-नारी श्रुति-विरोधी हैं। ब्राह्मण धर्म-ग्रंथो को बेचनेवाले है, अर्थात उनके आधार पर अपनी आजीविका कमानेवाले है। राजा प्रजा को पीडित करनेवाले हैं। कोई वेद-शास्त्र का अनुशासन नही मानता। जिसको जो मार्ग प्रिय है, वह उसीपर चलता है। उसी व्यक्ति को लोग विद्वान् समझते हैं, जो अभिमानी और दंभी है। दूसरे का धन हरनेवाले को लोग सदाचारी समझते है और दभी को आचारवान्। प्रायः उसी-को विद्वान् समझा जाता है, जो झूठ और उपहास करता है। उसीको ज्ञानी और विज्ञानी समझते है जो आचरण-विहीन और धर्म-ग्रंथो द्वारा बताये मार्ग का परित्याग करनेवाला है। उसीको लोग तपस्वी समझते हैं, जो विशाल जटाए व बडे-बडे नख रखता है और जो खाद्य-अखाद्य सभी-कुछ खाता है।

समाज का यह चित्र बडा निराशावादी है। इसमें सदेह नहीं कि तुलसी-दासजी के युग में अनेक विदेशी आक्रमणो से पराजित भारतीय जनता असगठित हो गई थी और यह वर्णन उस काल की अवस्था के बजाय सामाजिक विघटन का ही चित्रण करता है। कुछ सस्थाओ मे प्रचलित विकारो का भी वास्तविक वर्णन मिलता है। गोस्वामीजी लिखते हैं

जे अपकारी चार तिन्ह कर गौरव मान्य तेइ।
मन क्रम बचन लबार तेइ बकता कलिकाल महुँ॥

वही लोग योगी है, जो भक्ष्याभक्ष्य खाते है और कापालिको-जैसा वेश धारण करते हैं। उन्हीकी लोग सिद्ध मानकर पूजा करते है। जो लोग अपकारी है, उनका सभी गौरव मानते है और जो लोग मन-वचन-कर्म से झूठे है, वही कलि-काल मे वक्ता माने जाते है।

इस प्रकार गोस्वामीजी ने एक ओर आदर्श धार्मिक स्थिति रक्खी, दूसरी ओर सामाजिक स्थिति का कृष्ण पक्ष रक्खा और इस सामाजिक स्थिति से उबरने और आदर्श स्थिति को प्राप्त करने के रूप मे भगवान् की भक्ति का निरूपण किया।

: ५ :

राम-राज्य के आदर्श

हमारे समाज मे आदर्श राज्य-व्यवस्था के रूप मे राम-राज्य की कल्पना बहुत प्रचलित है और प्राय. शिक्षित या अशिक्षित सभी व्यक्ति इसकी चर्चा बडे उत्साह से करते है। महात्मा गाधी ने राम-राज्य की स्थापना की प्रेरणा से भारतीय जनता को जगाया। आचार्य विनोबा भी देश मे राम-राज्य और ग्राम-राज्य की स्थापना करना चाहते हैं। राम-राज्य की इस कल्पना को रामचरितमानस मे गोस्वामी तुलसीदासजी ने वर्णित किया है। उनके राम-राज्य मे :

बयरु न कर काहू सन कोई। राम प्रताप बिसमता खोई॥

रामचद्र का प्रभाव या प्रताप इतना अधिक है कि वह स्वय समाज और राज्य की एकता स्थापित करने मे सहायक होता है। कोई किसीसे वैर नही करता, क्योकि समाज के प्राणियो मे परस्पर वैर, स्वेच्छाचारी व शिथिल शासन का परिणाम हो सकता है, सशक्त प्रजातन्त्र मे वह चल नही सकता, क्योकि व्यक्तिगत स्वतत्रता वहीतक मान्य है, जहातक वह दूसरो की स्वतत्रता मे बाधक न हो।

इसके बाद गोस्वामीजी ने एक ही दोहे मे राम-राज्य की सामाजिक और सास्कृतिक स्थिति को व्यक्त कर दिया है

बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहि नहिं भय सोक न रोग॥

लोग अपने वर्ण या वर्ग का कर्तव्य-पालन करने मे लगे हुए है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र का सामाजिक विभाजन एक-दूसरे से घृणा करने के लिए नही, बल्कि समाज में प्रत्येक व्यक्ति का उसके गुण, कर्म और स्वभाव के अनुसार स्थान निश्चित करने के लिए हुआ था। प्रत्येक

व्यक्ति के जीवन को भी चार आश्रमो मे बाटा गया था।

ब्रह्मचर्य—लगभग २५ वर्ष की आयु तक का समय विद्या, कला-कुशलता की प्राप्ति मे एव जीवन के लिए तैयारी करने मे लगता था।

गृहस्थाश्रम—लगभग २५ वर्ष की अवस्था से ५० वर्ष की अवस्था तक लोग सफल पारिवारिक जीवन के निर्माण और निर्वाह में अपनी शक्ति लगाते थे। उसके बाद लगभग ५० से ७५ वर्ष तक वानप्रस्थ-आश्रम मे आकर वे अपनी प्राप्त विद्या, अपनी कला-कुशलता और जीवन के अनुभवो का लाभ एक स्थान पर रुककर गुरुकुलो द्वारा आगे आनेवाली पीढी को देते थे। ७५ वर्ष के बाद शेष जीवन सन्यासी के रूप में ससार की मोह-तृष्णा से ऊपर उठकर समाज को सदुपदेश देने में व्यतीत करते थे। वर्ण-विभाजन भी एक प्रकार का आश्रम-विभाजन ही था।

गोस्वामीजी ने लिखा है कि सभी लोग अपने-अपने धर्म मे लगे है और वेद-पथ का अनुसरण करते है। लोग भारत की सास्कृतिक परपरा अर्थात् वेद, पुराण, उपनिषद्, ब्राह्मण-ग्रन्थो आदि मे आस्था रखते है। फलत: ऐसे समाज मे भय नही, क्योकि वैर नही, और वर्ग या वर्ण-सघर्ष तथा शोक भी नही, क्योकि लोग अपनी आध्यात्मिक परंपरा का पालन करते हैं और उससे सुख और संतोष का अनुभव करते हैं। रोग नही, क्योकि व्यक्ति का जीवन सयम और पवित्रता से पूर्ण है। उनके राम-राज्य में :

दैहिक दैविक भौतिक तापा। रामराज नहिं काहुहि ब्यापा॥
सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती॥
चारिउ चरन धर्म जग माहीं। पूरि रहा सपनेहुँ अघ नाहीं॥

लोग धर्म और नीति के अनुसार आचरण करते है। और कही सपने में भी पाप दिखाई नही देता। गोस्वामीजी फिर लिखते हैं :

अल्पमृत्यु नहिं कवनिउ पीरा। सब सुंदर सब बिरुज सरीरा॥
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छनहीना॥
सब निर्दंभ धर्मरत पुनी। नर अरु नारि चतुर सब गुनी॥
सब गुनग्य पंडित सब ग्यानी। सब कृतग्य नहिं कपट सयानी॥

राम राज नभगेस सुनु सचराचर जग माँहि ।
काल कर्म सुभाव गुन-कृत दुःख काहुहि नाँहि ॥

किसीकी अकाल मृत्यु नही होती और न किसी और प्रकार का कष्ट होता है। सभी सुदर और नीरोग हैं। स्पष्टत. सुदरता आरोग्य से सबध रखती रखती है। कोई धनहीन, दुखी या विवश नही है। न कोई मूर्ख है, न गुणहीन। सभी चतुर और गुणी हैं। चतुरता का अर्थ यहा चालाकी से नही, क्योकि चालाकी के साथ धर्म का पालन नही हो सकता। राम-राज्य मे सारे चर-अचर जगत् मे किसी भी व्यक्ति को उसकी परिस्थिति से, उसके कर्म, उसके स्वभाव अथवा गुण से उत्पन्न दुख नही होता। रामचद्र का राज्य व्यापक है, क्योकि यह प्रेम का राज्य है। राम-राज्य की सुख-सपदा का वर्णन शेष और शारदा भी नही कर सकते :

राम राज कर सुख संपदा। बरनि न सकइ फनीस सारदा ॥
सब उदार सब पर उपकारी। विप्र चरन सेवक नर नारी ॥
एक नारि व्रत रत सब झारी। ते मन वच क्रम पति हितकारी ॥

सभी उदार और परोपकारी हैं। लोग (नर-नारी) विशेष ज्ञानवान् और आचरणशील हैं। विप्रो के चरणो के सेवक है। पुरुष एकपत्नी-व्रती है और स्त्रिया मन, वचन और कर्म से पति-परायणा हैं। इस राज्य मे दड का नाम लेश-मात्र भी नही और लोग मन को जीतने का प्रयास करते हैं और इस प्रकार राम-राज्य सच्चे अर्थो मे स्वराज्य है। इस प्रकार हम देखते है कि सुराज और स्वराज्य मे वस्तुत कोई अतर नही है और सबसे बडा स्वराज्य है—व्यक्ति का अपने ऊपर अधिकार; अर्थात् अपनी कामनाओ और वासनाओ के ऊपर स्वामित्व। ऊपर के विवेचन मे गोस्वामीजी ने सामाजिक और सास्कृतिक वैभव की चर्चा की है, लेकिन कोई समाज आर्थिक समृद्धि के बिना भी अधिक दिनो तक सुखी नही रह सकता और उसकी एकता और शाति दीनता और अभाव के आघातो से समाप्त हो जाती है। इसलिए गोस्वामीजी ने आर्थिक या भौतिक समृद्धि की भी चर्चा की है :

फूलहिं फरहिं सदा तरु कानन। रहहिं एक सँग गज पंचानन ॥
खग मृग सहज बयरु बिसराई। सबन्हि परसपर प्रीति बढ़ाई ॥
कूजहिं खग मृग नाना बृंदा। अभय चरहिं बन करहिं अनंदा ॥
सीतल सुरभि पवन बह मंदा। गुंजत अलि लै चलि मकरंदा ॥
लता बिटप मागें मधु चवहीं। मनभावतो धेनु पय स्रवहीं ॥
ससि संपन्न सदा रह धरनी। त्रेता भइ कृतजुग कै करनी ॥
प्रगटीं गिरिन्ह बिबिध मनि खानी। जगदातमा भूप जग जानी ॥
सरिता सकल बहहिं बर बारी। सीतल अमल स्वाद सुखकारी ॥
सागर निज मरजादा रहहीं। डारहिं रत्न तटन्हि नर लहहीं ॥
सरसिज संकुल सकल तड़ागा। अति प्रसन्न दस दिसा बिभागा ॥

बिधु महि पूर मयूखन्हि रबि तप जेतनेहि काज।
मागें वारिद देहिं जल रामचंद्र कें राज ॥

वृक्षो और वनो में समय पर फूल और फल आते है। उनमे खग और मृग स्वाभाविक वैर छोडकर आपस मे प्रेमपूर्वक रहते हैं। नाना प्रकार के पक्षी और मृग निर्भय होकर वन मे विहार करते है। शीतल, मद और सुगधित पवन द्वारा वातावरण हमेशा शांत एव सुखी रहता है। लताओ और वृक्षो से मनचाहे फल तथा मधु और गायो से मनचाहे दूध की धारा वहती है। पृथ्वी अनाज से भरी-पूरी रहती है और त्रेता मे सत्युग का-सा वातावरण बन जाता है। पहाड़ो से और भूगर्भ से नाना प्रकार के खनिज पदार्थ निकलते है। सरिताओ मे निर्मल जल वहता है। समुद्र भी अपनी मर्यादा के अदर बहता हुआ अपने अमूल्य रत्न— जैसे मोती-सीप आदि—भेट करता है। सभी तालाबो मे कमल खिले हुए मिलते है और सभी दिशाओं में आनद-मगल व्याप्त रहता है। चंद्रमा, सूर्य और बादल आदि प्रकृति के स्वतत्र तत्त्व और नक्षत्र जनता की इच्छा की नियमित रूप से पूर्ति करते रहते है।

राम-राज्य की कल्पना केवल कल्पना नही है। प्रयत्न करने पर आज के युग मे भी सबकुछ संभव है।

: ६ :

अंतर्जातीय संबंध

रामचरितमानस की व्यापक कथा-वस्तु केवल परिवार या समुदाय तक ही सीमित नहीं है। इसका प्रसार अंतर-सामुदायिक संबंधों के क्षेत्र में भी हुआ है। भारत के प्रागैतिहासिक युग में जब आने-जाने के साधन बहुत सीमित थे और देश का अधिकांश भाग दुर्गम वनों से ढका हुआ था, आर्य-संस्कृति के प्रवर्तक और प्रचारक श्रीराम ने जनकपुर (जो आजकल नेपाल राज्य में है) से लेकर लंका तक की पूरी यात्रा की और उत्तर, दक्षिण तथा मध्य-भारत को एक सूत्र में बांधने का प्रयत्न किया। इस प्रयास में उनका संपर्क केवल आर्य-संस्कृति के मनीषियों या ऋषि-मुनियों से ही नहीं हुआ, बल्कि भील, कोल, और किरात-जैसी आदिम-जातियों से भी हुआ। वानर, भालू आदि नामों से संबोधित दक्षिण भारत की कुछ अर्द्धविकसित जातियों से संपर्क हुआ और रामचंद्र ने इस संपर्क को स्नेह और ममता के आधार पर सुदृढ़ किया। उनके मन में छुआछूत या जाति की उच्चता या नीचता का कोई भी भाव कहीं भी दिखाई नहीं पड़ता। ये बुराइयां तो भारतीय समाज में तब आईं जब पराधीनता और परवशता ने उसके विकास की धारा सीमित हो गई और भारत के अंतर्जातीय संबंध संकुचित हो गये।

यद्यपि गोस्वामी तुलसीदास ने स्थान-स्थान पर ब्राह्मणों का गौरव-गान किया है और शूद्रों की भर्त्सना की है, पर रामचरितमानस की यह परिसीमा गोस्वामीजी के युग की सामाजिक हीनता के ही कारण थी, आर्य-संस्कृति के किसी मौलिक सिद्धान्त के कारण नहीं। अंतर्जातीय संबंधों का यह अध्ययन निषाद के अनुपम जीवन से किया जा सकता है। निषादराज गुह गंगा के तटवर्ती छोटे-से आदिम जाति के राज्य शृङ्ग-

वेरपुर के सरदार है। फिर भी अपना काम करते है और विशेष लोगो को गंगा के पार पहुंचाते है। जब रामचंद्र गगा के तीर पर आते है, तो निषादराज स्नेह-निरीहता और सरलता का वड़ा ही मार्मिक अवसर प्रस्तुत करते है। गोस्वामीजी ने इसका विस्तृत वर्णन किया है :

मागी नाव न केवटु आना। कहइ तुम्हार मरमु मैं जाना॥
चरन कमल रज कहुँ सबु कहई। मानुष करनि मूरि कछु अहई॥
छुअत सिला भइ नारि सुहाई। पाहन तें न काठ कठिनाई॥
तरनिउ मुनि घरिनी होइ जाई। बाट परइ मोरि नाव उड़ाई॥
एहिं प्रतिपालउँ सबु परिवारू। नहिं जानउँ कछु अउर कबारू॥
जौं प्रभु पार अवसि गा चहहू। मोहि पद पदुम पखारन कहहू॥

इस प्रार्थना मे आज के प्रजातान्त्रिक युग के अनुसार समता की कमी मालूम पडती है, क्योकि एक व्यक्ति दूसरे के पाव धोना चाहता है; लेकिन इसमे स्नेह, सद्भावना और सेवा का अद्भुत सम्मिश्रण है। आदिमजातीय सरदार अयोध्या के राजकुमार का अपने प्रदेश मे सर्वविदित आदिमजातीय आतिथ्य के अनुसार स्वागत करते है। आज से २०-२५ वर्ष पहले भी गावो में जव कुलगुरु आते थे तो उनके चरण धोये जाते थे और उनका प्रत्येक संभव स्वागत-सत्कार किया जाता था।

निषाद का यह हठ और वढता है और वह निश्चय करते है :

पद कमल धोइ चढ़ाइ नाव न नाथ उतराई चहौं।
मोहि राम राउरि आन दसरथ सपथ सब साँची कहौं॥
वरु तीर मारहिं लखनु पै जब लगि न पाँय पखारिहौं।
तब लगि न तुलसीदास नाथ कृपाल पारु उतारिहौं॥

राम केवट की प्रेमभरी अटपटी वाणी सुनकर प्रसन्न हो जाते है और निषादराज की सेवा स्वीकार कर लेते है। निषाद-राज उनके पैर धोते है और उन्हे गगा के पार उतार देते है। इस व्यवहार मे कोई व्यावसायिक संवध नही है, फिर भी जव :

उतरि ठाढ़ भए सुरसरि रेता। सीय रामु गुह लखन समेता॥

केवट उतरि दडवत कीन्हा। प्रभुहि सकुच एहि नहिं कछु दीन्हा॥
पिय हिय की सिय जाननिहारी। मनि मुदरी मन मुदित उतारी॥
कहेउ कृपाल लेहि उतराई। केवट चरन गहे अकुलाई॥

रामचद्र मणि की मुद्रिका देने का प्रयास करते हैं, पर निषादराज उसे स्वीकार नही करते है। यह विनिमय तो सद्भाव का है।

निषादराज यही तक अपनी सेवा सीमित नही रखते, वह यह प्रार्थना भी करते है कि

तब प्रभु गुहहि कहेउ घर जाहू। सुनत सूख मुखु भा उर दाहू॥
दीन वचन गुह कह कर जोरी। विनय सुनहु रघुकुलमनि मोरी॥
नाथ साथ रहि पथु देखाई। करि दिन चारि चरन सेवकाई॥

निषादराज रामचद्र के साथ चल पडते हैं और उनके वन-प्रवास मे पूर्ण रूप से उनकी सहायता करते है।

इसके बाद चित्रकूट मे विश्राम करने पर रामचद्र की सहायता भील, कोल, किरात आदि करते हैं और उनके लिए पर्णशाला बनाते हैं। रामचरितमानस मे उनके आतिथ्य का एक और प्रकरण मिलता है, जब मुनि लोग चित्रकूट से राम के पास चले जाते है और उनके आगमन की सूचना कोल-किरातो को मिलती है तो वे

यह सुधि कोल किरातन्ह पाई। हरषे जनु नव निधि घर आई॥
कद मूल फल भरि भरि दोना। चले रक जनु लूटन सोना॥
तिन्ह महँ जिन्ह देखे दोउ भ्राता। अपर तिन्हहि पूँछहि मगु जाता॥
कहत सुनत रघुबीर निकाई। आइ सबन्हि देखे रघुराई॥
करहिं जोहारु भेंट धरि आगे। प्रभुहि बिलोकहिं अति अनुरागे॥

वे अपने प्रदेश को धन्य मानते है जहा राम का आगमन हुआ और उनकी सेवा का आश्वासन देते है। वे कहते है .

हम सब धन्य सहित परिवारा। दीख दरसु भरि नयन तुम्हारा॥
कीन्ह बासु भल ठाउँ बिचारी। इहाँ सकल रितु रहब सुखारी॥
हम सब भाँति करब सेवकाई। करि केहरि अहि बाघ बराई॥

हम सेवक परिवार समेता। नाथ न सकुचव आयसु देता ॥

इसमे आदिवासी परिवार की एकता और अभिन्नता का परिचय मिलता है जब वे कहते है कि "हम परिवार-सहित आपके सेवक है। आशा है, आप आज्ञा देने मे संकोच न करेंगे।" इस अवसर पर गोस्वामीजी ने अंतर्जातीय सबध मे एक सिद्धात की बात कही है :

रामहि केवल प्रेमु पिआरा। जानि लेउ जो जाननिहारा ॥
राम सकल बनचर तब तोषे। कहि मृदु वचन प्रेम परिपोषे ॥
विदा किए सिर नाइ सिधाये। प्रभु गुन कहत सुनत घर आये ॥

निषाद का आध्यात्मिक और मानसिक स्तर बहुत ऊचा है। इसका परिचय इस बात से मिलता है :

फिरेउ निषादु प्रभुहि पहुँचाई। सचिव सहित रथ देखेसि आई ॥
मंत्री विकल बिलोकि निषादू। कहि न जाइ जस भयउ बिषादू ॥

सुमंत और रथ के घोड़े तक बहुत दुःखी है, क्योकि रामचद्र, लक्ष्मण और सीता अब दूर चले गये है। ऐसे अवसर पर निषाद मंत्री-राज सुमंत को उपदेश देते है और धीरज तथा सात्वना द्वारा उनके विषाद को दूर करने का प्रयास करते है। गोस्वामीजी ने इस प्रसंग का वर्णन करते हुए लिखा है :

धरि धीरजु तब कहइ निषादू। अब सुमंत्र परिहरहु विषादू ॥
तुम्ह पंडित परमारथ ग्याता। धरहु धीर लखि बिमुख विधाता ॥
विविध कथा कहि कहि मृदु बानी। रथ बैठारेउ बरबस आनी ॥

इसके बाद भरत जब अपने पुरवासियों के साथ रामचद्र को लौटाने के लिए आते है, तो निषादराज को यह सदेह होता है कि वह शायद राम को मारने जा रहे है, अन्यथा साथ में सेना की कोई आवश्यकता नही थी। यह संदेह होते ही निषादराज रामचंद्र की रक्षा के लिए बड़े-से-बड़ा त्याग करने के लिए तैयार हो जाते है :

होहु सँजोइल रोकहु घाटा। ठाटहु सकल मरै के ठाटा ॥
सनमुख लोह भरत सन लेऊँ। जिअत न सुरसरि उतरन देऊँ ॥

पर जब बाद मे उन्हे यह मालूम होता है कि भरत राम के अनन्य भक्त हैं तो वह उनका हृदय से स्वागत करते हैं। भरत निषाद को राम का सखा जानकर रथ से उतरकर पैदल चलते हैं। निषाद उन्हें सादर प्रणाम करते है :

करत दंडवत देखि तेहि भरत लीन्ह उर लाइ।
मनहुँ लखन सन भेंट भइ प्रेमु न हृदयँ समाइ॥

यहा भरत और निषाद एक-दूसरे को प्रेम से गले लगाते हैं। छुआ-छूत या ऊच-नीच की बात ऐसी परिस्थिति मे सोचना भारतीय संस्कृति के प्रति द्रोह है, क्योकि :

भेंटत भरतु ताहि अति प्रीती। लोग सिहाहिं प्रेम कै रीती॥
धन्य धन्य धुनि मंगल मूला। सुर सराहि तेहि बरिसहि फूला॥

सभी लोग निषाद को लक्ष्मण के समान मानते हैं, क्योकि वह राम के सखा है। जब भरत अपने सहयात्री विशाल जनसमूह के साथ चित्रकूट मे पहुचते हैं तो कोल, किरात, भील और वनवासी उनका पूरा स्वागत करते है। निषादराज उन्हे मार्ग दिखाते है। मुनिवर वशिष्ठ स्वयं राम-सखा निषाद को भेटते हैं। उन्हे गले लगाते है, मानो धरती पर गिरे हुए स्नेह को उठा रहे हो।

प्रेम पुलकि केवट कहि नामू। कीन्ह दूरि तें दंड प्रनामू॥
रामसखा रिषि बरबस भेंटा। जनु महि लुठत सनेह समेटा॥

बडे-छोटे का इसमे थोडा अतर अवश्य है। निषादराज वशिष्ठ से हाथ नही मिलाते हैं, दूर से दडवत् प्रणाम करते है, पर वशिष्ठ उनकी छाया से नही बचते, उन्हे प्रेम से गले लगाते है। पुरवासी भी केवट से मिलकर अत्यत प्रसन्न होते हैं। यहा के साधारण आदिवासी मित्र पुरवासियो का जो स्वागत करते हैं, उसका गोस्वामीजी ने इस प्रकार वर्णन किया है :

कहहिं सनेह मगन मृदु बानी। मानत साधु पेम पहिचानी॥
तुम्ह सुकृती हम नीच निषादा। पावा दरसनु राम प्रसादा॥

हमहि अगम गति दरसु तुम्हारा । जस मरु धरनि देवधुनि धारा ॥
राम कृपाल निषाद नेवाजा । परिजन प्रजउ चहिअ जस राजा ॥

और प्रार्थना करते हैं :

यह जियँ जानि सँकोचु तजि करिअ छोहु लखि नेहु ।
हमहि कृतारथ करन लगि फल तृन अंकुर लेहु ॥

तुम्ह प्रिय पाहुन बन पगु धारे । सेवा जोगु न भाग हमारे ॥
देब काह हम तुम्हहि गोसाँई । ईंधनु पात किरात मिताई ॥
यह हमारि अति बड़ि सेवकाई । लेहिं न बासन बसन चोराई ॥
हम जड़ जीव जीव गन घाती । कुटिल कुचाली कुमति कुजाती ॥
पाप करत निसि बासर जाहीं । नहिं पट कटि नहिं पेट अघाहीं ॥
सपनेहुँ धरम बुद्धि कस काऊ । यह रघुनंदन दरस प्रभाऊ ॥
जब तें प्रभु पद पदुम निहारे । मिटे दुसह दुख दोष हमारे ॥
बचन सुनत पुरजन अनुरागे । तिन्ह के भाग सराहन लागे ॥

: ७

जीवन के मुख्य संस्कार

जन्म

जन्म जीवन का प्रथम और मूल संस्कार है। परिवार का या समाज का निर्माण और विकास शिशु के जन्म से ही होता है। शिशु ही बडा होकर नये परिवार का विकास करता है और परंपरा तथा संस्कृति का संवहन करता है, इसलिए जन्म का संस्कार सबसे महत्त्वपूर्ण और आनंदप्रद माना जाता है।

रामचरितमानस में भगवान् राम के जन्म का विवरण बहुत विस्तृत रूप से किया गया है और उसकी विशद पृष्ठभूमि दी गई है। स्वायंभुव मनु और शतरूपा के वंशज कश्यप और अदिति ने भगवान् विष्णु को ही पुत्र-रूप में प्राप्त करने के लिए तप किया। उनकी प्रगाढ निष्ठा और तपस्या से प्रसन्न होकर भगवान् ने स्वयं उन्हें दर्शन दिये और कहा :

अब तुम्ह मम अनुसासन मानी। बसहु जाइ सुरपति रजधानी ॥
तहँ करि भोग बिसाल तात गएँ कछु काल पुनि।
होइहहु अवध भुआल तब मैं होब तुम्हार सुत ॥
इच्छामय नरबेष सँवारें। होइहउँ प्रगट निकेत तुम्हारें ॥
अंसन्ह सहित देह धरि ताता। करिहउँ चरित भगत सुखदाता ॥

इस प्रतिज्ञा के अनुसार राजा दशरथ ने अवधपुरी में राज्य करना आरंभ किया। उनके कौशल्या, सुमित्रा और कैकेयी तीन रानियां थीं। बहुत दिनों तक उन्हें किसी पुत्र की प्राप्ति नहीं हुई और तब :

एक बार भूपति मन माहीं। भै गलानि मोरें सुत नाहीं ॥
गुरगृह गयउ तुरत महिपाला। चरन लागि करि बिनय बिसाला ॥

गुरु वशिष्ठ ने उन्हें सात्वना दी और आशीर्वाद दिया :

धरहु धीर होइहहिं सुत चारी । त्रिभुवन विदित भगत भय हारी ॥

उनके परामर्श से शृंगी ऋषि बुलाये गए और पुत्रेष्टि यज्ञ का विधान हुआ । उसकी हवि को राजा ने अपनी तीनो रानियो मे बाटा । कालातर में रानियो ने गर्भ धारण किया और महाराज दशरथ के परिवार मे एक नये मगल का सूत्रपात हुआ :

जा दिन तें हरि गर्भहिं आए । सकल लोक सुख संपति छाए ॥
मंदिर महँ सब राजहिं रानीं । सोभा सील तेज की खानीं ॥
सुख जुत कछुक काल चलि गयऊ । जेहिं प्रभु प्रगट सो अवसर भयऊ ॥

जोग लगन ग्रह बार तिथि सकल भए अनुकूल ।
चर अरु अचर हर्षजुत राम जनम सुखमूल ॥

हिंदू विचारधारा के अनुसार ज्योतिष-शास्त्र द्वारा समस्त योग, लग्न, ग्रह और तिथि के अनुकूल होने पर रामचद्र का जन्म हुआ । इस समय के वातावरण की चर्चा तुलसीदास ने विस्तृत रूप से की है और यह वातावरण एक प्रकार से चमत्कारपूर्ण रहा है :

नौमी तिथि मधु मास पुनीता । सुकल पच्छ अभिजित हरि प्रीता ॥
मध्य दिवस अति सीत न घामा । पावन काल लोक बिश्रामा ॥
सीतल मंद सुरभि बह बाऊ । हरषित सुर संतन मन चाऊ ॥
वन कुसुमित गिरिगन मनिआरा । स्रवहिं सकल सरिताऽमृतधारा ॥

रामचद्र का जन्म एक चमत्कारपूर्ण घटना थी । उनके जन्म के समय प्रकृति मे विशेष सौंदर्य था, न अधिक धूप थी न अधिक छाया । शीतल-मंद-सुगधित वायु बह रही थी, चैत्र में वसंत की कुसुमश्री चारो ओर बिखरी थी । अन्य महापुरुषो के जन्म के अवसर पर भी इसी प्रकार के चमत्कारपूर्ण वातावरण का वर्णन मिलता है । उनका रूप अद्भुत था और उनका चरित्र भी असाधारण था, लेकिन कुछ क्षणों के बाद ही कौशल्या के यह कहने पर :

कीजै सिसुलीला अति प्रिय सीला यह सुख परम अनूपा ।

सुनि वचन सुजाना रोदन ठाना होइ बालक सुरभूपा ॥

रामचद्र का व्यवहार साधारण बालक का-सा हो गया ।

इस विवरण के बाद जन्म-सस्कार के साथ प्रचलित लोक-रीति की चर्चा की गई है । दशरथ बहुत प्रसन्न होते है, दासिया इधर-उधर आनद-मगल के उल्लास मे दौडती है । वाजे वजते हैं । गुरु वशिष्ठ को समाचार जाता है । वह ब्राह्मणो-सहित राजद्वार पर आते है, अनुपम बालको को देखते है और :

नंदीमुख सराध करि जातकरम सब कीन्ह ।
हाटक धेनु बसन मनि नृप बिप्रन्ह कहँ दीन्ह ॥

द्वारो पर तोरण लगे हुए है और ध्वज-ध्वजा-पताका फहरा रहे हैं । उनकी बनावट और सुदरता वर्णन के परे है ।

स्त्रिया, जिनका सस्कारो के मगलमय अवसर पर सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान होता है, घर-घर से चलती है और .

बृंद बृंद मिलि चलीं लोगाईं । सहज सिंगार किएँ उठि धाईं ।
कनक कलस मगल भरि थारा । गावत पैठहिं भूप दुआरा ॥

इस अवसर पर मागध, सूत, बदीगण और गायक भगवान् राम के पवित्र गुणो का गान करते है और सभी लोग दान-पुण्य करके अपनी प्रसन्नता प्रकट करते है । अयोध्या की गलियो मे कस्तूरी, चदन और कुकुम की बहार आ जाती है और लोगो के उल्लास का कोई ठिकाना नही रहता .

गृह-गृह बाज बधाव सुभ प्रगटे सुषमा कंद ।
हरषवंत सब जहँ तहँ नगर नारि नर बृंद ॥

इसके बाद दूसरा सस्कार नामकरण का होता है । महाराज दशरथ गुरु वसिष्ठ को बुलाते है और उनके आशीर्वाद से चारो राजकुमारो का नाम रखा जाता है

करि पूजा भूपति अस भाषा । धरिअ नाम जो मुनि गुनि राखा ॥
इन्ह के नाम अनेक अनूपा । मैं नृप कहब स्वमति अनुरूपा ॥

जो आनंद सिंधु सुख रासी। सीकर तें त्रैलोक सुपासी ॥
सो सुखधाम राम अस नामा। अखिल लोक दायक बिश्रामा ॥
बिस्व भरन पोषन कर जोई। ताकर नाम भरत अस होई ॥
जाके सुमरिन तें रिपु नासा। नाम सत्रुहन बेद प्रकासा ॥

इस प्रकार गुरु ने विचार कर इन बालकों के नाम रखे और आशीर्वाद दिया, "आपके चारो पुत्र चारों वेदों के तत्त्व हों !" चारों भाई एक-दूसरे से प्रेम करते है, परन्तु राम और लक्ष्मण का तथा भरत और शत्रुघ्न का संबंध एक-दूसरे के निकट है और इन श्यामल तथा गौर-वर्ण जोडियों को देखकर नारियां तृण तोड़ती है। बालक के जन्म के साथ बहुत आनद-मगल मनाया जाता है। दान-पुण्य किया जाता है। यजमानी प्रथा के सभी परिजनो को उचित पुरस्कार दिया जाता है। स्त्रिया विशेष आनंद का समारोह करती है :

नामकरण-सस्कार के बाद मुडन-संस्कार किया जाता है :

बालचरित हरि बहुबिधि कीन्हा। अति अनंद दासन्ह कहँ दीन्हा ॥
कछुक काल बीतें सब भाई। बड़े भए परिजन सुखदाई ॥
चूड़ाकरन कीन्ह गुरु जाई। बिप्रन्ह पुनि दछिना बहु पाई ॥

इसके बाद :

भए कुमार जबहिं सब भ्राता। दीन्ह जनेऊ गुरु पितु माता ॥
गुर गृहँ गए पढ़न रघुराई। अलप काल विद्या सब आई ॥

यज्ञोपवीत-संस्कार के बाद विद्यारंभ होता है। इस प्रकार संस्कारों के बीच बालको का विकास होता है।

विवाह

विवाह जीवन का अत्यंत मगलमय अवसर है। इस अवसर पर दो व्यक्ति ऐसे पवित्र बंधन मे बंधते है, जो परिवार के रूप मे समाज की व्यवस्था की मौलिक इकाई का निर्माण करता है। हर सस्कृति, हर देश और हर समाज मे विवाह की अपनी परंपरा होती है। हिंदू समाज

में विवाह की अनेक रीतिया प्रचलित हैं, जिन्हे शकुतला के गधर्व-विवाह से आज के कतिपय गावो के गुडिया-गुड्डो के विवाह (शिशु विवाह) तक की अनेक श्रेणियो में बांटा जा सकता है। रामचरितमानस मे वर्णित विवाह-प्रथा आज की प्रथा से भिन्न अवश्य है, पर इस सस्कार के वर्णन मे वहुत-कुछ समता है।

पार्वती भगवान् शकर की प्राप्ति के लिए घोर तप करती हैं। सप्तऋषि उनकी परीक्षा लेने आते हैं। शकर के प्रति पार्वती की निष्ठा अचल प्रमाणित होती है और वह कहती हैं :

हमरें जान सदा सिव जोगी। अज अनवद्य अकाम अभोगी ॥
जौं मै सिव सेये अस जानी। प्रीति समेत कर्म मन बानी ॥
तौ हमार पन सुनहु मुनीसा। करिहहिं सत्य कृपानिधि ईसा ॥

और उनका प्रण है कि, "वरउँ संभु नत रहउँ कुंआरी"। इसके बाद सप्तऋषि हिमवान् के पास जाते हैं :

हृदयँ विचारि संभु प्रभुताई। सादर मुनिवर लिए बोलाई ॥
सुदिनु सुनखतु सुघरी सोचाई। बेगि बेदबिधि लगन धराई ॥
पत्री सप्तरिषिन्ह सोई दीन्ही। गहि पद विनय हिमाचल कीन्ही ॥
जाइ बिधिहि तिन्ह दीन्हि सो पाती। बाचत प्रीति न हृदयँ समाती ॥
लगन बाचि अज सबहि सुनाई। हरषे मुनि सब सुर समुदाई ॥

संबंध निश्चित हो जाने के बाद बारात की तैयारी होती है। शंकर की यह बारात अपनी विविधता और विचित्रता के कारण लोकोक्ति-सी बन गई है। ऐसे अवसर पर नृत्य और गीत की भी व्यवस्था होती है और प्रत्येक व्यक्ति के मन के भीतर जो मगल और उल्लास की भावना है, वही शकुन के रूप मे व्यक्त होती है। शकर का शृंगार असाधारण शृंगार है और उसके आधार पर विवाह की साधारण रीति-नीति का विवेचन नही किया जा सकता। लेकिन यह कौतुक की वस्तु अवश्य है :

सिवहि संभुगन करहिं सिंगारा। जटा मुकुट अहि मौरु सँवारा ॥

कुंडल कंकन पहिरे ब्याला । तन बिभूति पट केहरि छाला ॥
ससि ललाट सुंदर सिर गंगा । नयन तीनि उपबीत भुजंगा ॥

उनके इस साज-शृंगार को देखकर देवताओ की स्त्रियां मुस्कराती हैं और पार्वती की सुकुमारता और सुदरता के अनुरूप इस संवंध को नही पाती :

देखि सिवहि सुरत्रिय मुसुकाही । बर लायक दुलहिनि जग नाहीं ॥

शंकर के वरातियों में विष्णु, ब्रह्मा आदि देवता अपने-अपने वाहनो पर चढकर चलते हैं। हर प्रकार के वर्ग और वर्ण के लोग उस उत्सव मे सम्मिलित है। इसलिए इन सवका एक साथ चलना कुछ बेमेल-सा लगता है। विष्णु व्यग के साथ कहते है ·

बिष्नु कहा अस बिहसि तब बोलि सकल दिसिराज ।
बिलग बिलग होइ चलहु सब निज निज सहित समाज ॥

विष्णु के इस विनोद का उत्तर शकर केवल मुस्कराकर देते हैं। इस विशेष वारात की विरूपता को गोस्वामीजी और स्पष्ट रूप से लोगो के सामने रख देते है .

कोउ मुखहीन बिपुल मुख काहू । बिनु पद कर कोउ बहु पद बाहू ॥
बिपुल नयन कोउ नयन बिहीना । रिष्ट पुष्ट कोउ अति तन खीना ॥

जव यह अद्भुत वारात नगर के निकट आती है तो नगर मे कुहराम मच जाता है। फिर भी अगवानी (स्वागत) करनेवाले लोग वनाव-शृगार करके नये-नये प्रकार की सवारियो को सजाकर आदर-सहित वारात को लेने चलते हैं। देवताओ के समाज को देखकर इन लोगों को प्रसन्नता होती है। विष्णु भगवान् को देखकर और भी सुख होता है, लेकिन :

सिव समाज जव देखन लागे । बिडरि चले बाहन सब भागे ॥
धरि धीरजु तहँ रहे सयाने । बालक सब लै जीव पराने ॥
गएँ भवन पूछहिं पितु माता । कहहिं बचन भय कंपित गाता ॥

बारात का स्वागत होता है। सवको जनवासे मे ठहराया जाता है।

पार्वती की माता मैना हर्ष के साथ शिवजी का परिछन करने चलती हैं। शिव के विचित्र वेश को देखकर स्त्रियां बहुत भयभीत हो जाती हैं और भागकर अपने-अपने भवनों में छिप जाती हैं, फिर भी मैना को तो उस पवित्र सत्कार का निर्वाह करना ही है। मन मसोसकर वह परिछन करती है, पार्वती को इस अवसर पर समझाती हैं और भाग्य को दोष देती हैं। आरम्भिक स्वागत-सत्कार के पूरा हो जाने पर और यह जानकर कि अशिव-वेश भगवान् शंकर शिव के धाम हैं, स्त्री, पुरुष, बालक, युवक और वृद्ध सभी लोगों को सांत्वना मिलती है। अब बारातियों के सत्कार का अवसर आता है और .

भाँति अनेक भई जेवनारा। सूपसास्त्र जस कछु व्यवहारा॥
सो जेवनार कि जाइ बखानी। बसहिं भवन जेहिं मातु भवानी॥
सादर बोले सकल बराती। बिष्नु बिरंचि देव सब जाती॥
बिबिधि पाँति बैठी जेवनारा। लागे परुसन निपुन सुआरा॥

बारात में भोजन की विस्तृत व्यवस्था—लोगों का पाँति-पाँति में अलग-अलग बैठने और स्त्रियों को कोमल वाणी से परिहासमय गालियां देने की प्रथा आज भी हिन्दुओं के विवाहों में पाई जाती है।

इसके बाद मुनि लोग लौटकर हिमवान को लग्न-पत्रिका सुनाते हैं और विवाह का समय देखकर देवताओं को बुलावा भेजते हैं :

बोलि सकल सुर सादर लीन्हे। सबहिं जथोचित आसन दीन्हे॥
बेदी बेद बिधान सँवारी। सुभग सुमंगल गावहिं नारी॥

मुनियों की आज्ञा से शिव-पार्वती गणेश का पूजन करते हैं और वेद-विधि द्वारा विवाह की रीति के अनुसार महामुनि पुरोहित के रूप में शंकर का विवाह कराते हैं। पर्वतराज हिमाचल हाथ में कुश लेकर कन्या-दान करते हैं। शंकर पार्वती का पाणिग्रहण करते हैं। मुनिगण वेद-मंत्रों का उच्चारण करते हैं और सभी देवता शिव का जय-जयकार करते हैं :

पानिग्रहन जब कीन्ह महेसा। हियँ हरषे तब सकल सुरेसा॥

बेदमंत्र मुनिबर उच्चरहीं। जय जय जय शंकर सुर करहीं ॥

ऐसे अवसर पर दहेज की भी प्रथा है, जो वस्तुत. कन्या का दाय-भाग ही है।

कन्या की विदाई माता-पिता और सखी-सहेलियो के लिए एक बहुत ही मार्मिक अवसर होता है। माता सुनयना श्री शंकर से कहती हैं.

नाथ उमा मम प्रान सम गृह किंकरी करेहु।
छमेहु सकल अपराध अव होइ प्रसन्न वरु देहु॥

पार्वती बार-बार अपनी माता व सखियो को भेटती है और उनका स्नेह-आशीर्वाद प्राप्त करके बाजे-गाजे के साथ विदा होती हैं। पिता कुछ दूर तक उन्हे पहुंचाते है और फिर घर लौट आते हैं।

शंकर के विवाह में आदिम जाति के विवाह की कुछ झांकी मिलती है और श्री राम के विवाह में आर्य सस्कृति की; पर दोनों मे दोनो के तत्त्व पाये जाते है।

श्रीराम विश्वामित्र के साथ कौतूहलवश स्वयवर देखने जनकपुरी जाते है। वहा अनेक राजे-महाराजे सीता के साथ विवाह की कामना से आते है। सीता का विवाह उसीके साथ होना है, जो शकर के धनुष को तोड दे। बड़े-बड़े योद्धा और वीर उपस्थित हैं, पर शोभा और गुणों के आधार भगवान् राम को यह गौरव प्राप्त होता है। स्वयवर का बडा ही बिशद वर्णन इस प्रसग मे किया गया है। यद्यपि विवाह की यह स्वयंबर-प्रथा आजकल विशेष रूप से प्रचलित नही है, फिर भी कुछ आदिम-जातियो मे इसके अवशेष आज भी पाये जाते है। स्वयंवर भावी वर के ज्ञान, शक्ति, स्वभाव और आचरण तथा गुण-शील आदि की परीक्षा का अवसर होता था और इसके निर्णय मे कन्या को पूरी स्वतत्रता प्राप्त थी।

सीता-स्वयवर मे जब द्वीप-द्वीप के राजकुमार और मानव-रूप मे देव और दनुज आदि आकर शंकर के धनुष को तोड नही पाते, तब विश्वामित्र कहते है :

विश्वामित्र समय सुभ जानी । बोले अति सनेहमय बानी ॥
उठहु राम भंजहु भव चापा । मेटहु तात जनक परितापा ॥

किसीको साधारणतया विश्वास नही होता था कि राम यह गुरुतर कार्य कर सकेंगे, क्योकि वह अपेक्षाकृत कम अवस्था के थे और बहुत ही सुकुमार लगते थे । जनकपुरी की सभी नर-नारिया यही प्रार्थना करती हैं कि भगवान् राम धनुष तोड सकें । सीता स्वय यह प्रार्थना कर रही हैं कि यदि तन, मन और वचन से उनका प्रण सच्चा है, तो वह रघुनाथजी की ही जीवन-सगिनी बन सकेंगी । इस अवसर के बाह्य और आतरिक द्वद्व और सघर्ष का बडा ही सुदर और काव्यात्मक चित्र गोस्वामीजी ने प्रस्तुत किया है

सब कर ससउ अरु अग्यानू । मंद महीपन्ह कर अभिमानू ॥
भृगुपति केरि गरब गरुआई । सुर मुनिबरन्ह केरि कदराई ॥
सिय कर सोचु जनक पछितावा । रानिन्ह कर दारुन दुख दावा ॥
संभु चाप बड़ बोहितु पाई । चढ़े जाइ सब संगु बनाई ॥
राव बाहुबल सिंधु अपारू । चहत पारु नहिं कोउ कड़हारू ॥

और फिर राम ने गुरु का अनुशासन पाकर निश्चय किया । अपनी सकल्प-शक्ति अर्जित की और :

गुरुहि प्रनामु मनहि मन कीन्हा । अति लाघवँ उठाइ धनु लीन्हा ॥
लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़ें । काहु न लखा रहे सब ठाढ़ें ॥

धनुप टूटने के बाद कुछ अभिमानी राजाओ ने और मोहाभिमानी परशुराम ने बाधा डालने का प्रयास किया, लेकिन ये सब बाधाएँ एक क्षण मे दूर हो गई । रामचंद्र और सीताजी का विवाह निश्चित हो गया । जनकपुरी से अयोध्या के लिए दूतो द्वारा शुभ सदेश भेजा गया । महाराजा जनक द्वारा भेजे हुए दूतो से सदेश पाकर अयोध्या मे उत्साह का वातावरण छा गया :

सुनि सुभ कथा लोग अनुरागे । मग गृह गलीं सँवारन लागे ॥
जद्यपि अवध सदैव सुहावनि । राम पुरी मंगलमय पावनि ॥

तदपि प्रीति कै रीति सुहाई। मंगल रचना रची बनाई ॥
ध्वज पताक पट चामर चारू। छावा परम बिचित्र बजारू ॥
कनक कलस तोरन मनिजाला। हरद दूब दधि अच्छत माला ॥
मगलमय निज निज भवन लोगन्ह रचे बनाइ।
बीथीं सीची चतुरसम चौकें चारु पुराइ ॥

स्त्रियों के समूह मगल-गान करते है। चारण यश-गान करते है, विप्र-जन वेद-पाठ करते है और दशरथ का भवन आनद-मंगल से परिपूर्ण हो जाता है।

अनेक जातियों के सुदर-सुदर घोड़े सजाये जाते है। रथ तैयार किये जाते है और :

छरे छबीले छयल सब सूर सुजान नबीन।
जुग पदचर असवार प्रति जे असिकला प्रबीन ॥

रथ, सारथि, ध्वजा, पताका और तलवार की कला मे प्रवीण नव-युवक ऐसे लगते हैं, मानो किसी सग्राम में जा रहे हों। इसका विशद वर्णन गोस्वामीजी ने इस प्रकार किया है :

चले मत्त गज घंट बिराजी। मनहुँ सुभग सावन घन राजी ॥
बाहन अपर अनेक बिधाना। सिबिका सुभग सुखासन जाना ॥
तिन्ह चढ़ि चले बिप्रबर बृंदा। जनु तनु धरें सकल श्रुति छंदा ॥
मागध सूत बंदि गुन गायक। चले जान चढ़ि जो जेहि लायक ॥
बसर ऊँट बृषभ बहु जाती। चले बस्तु भरि अगनित भाँती ॥
कोटिन्ह काँवरि चले कहारा। बिबिध बस्तु को बरनै पारा ॥
चले सकल सेवक समुदाई। निज निज साजु समाजु बनाई ॥

इस युग मे रेले या मोटरे नही थी। यातायात के मार्ग बीहड वनों में से गुजरते थे, इसलिए सुरक्षा की व्यवस्था करके चलना पडता था। आज से लगभग २०-२५ वर्ष पहले, और कुछ हद तक आज भी, गावों की बराते इसी प्रकार चलती है। महाराजा दशरथ, गुरु वशिष्ठ और परि-वार के लोग, पुरोहित और विप्र-गण विशेष सजावट के साथ बारात

में जाते हैं। महाराजा जनक ने

आवत जानि भानु कुल केतू। सरितन्हि जनक बँधाएँ सेतू॥
बीच बीच बर बास बनाए। सुरपुर सरिस संपदा छाए॥

बारातवालो के स्वागत मे अनेक प्रकार के भोजन, वस्त्र, पकवान, फल, आभूषण, रत्न, पक्षी, मृग, हाथी, घोडे आदि भेजे गए। गोस्वामीजी इस विस्तृत चर्चा मे यह नही भूले कि मिथिलापुरी मे दही-चिउडे का अतिथियो के स्वागत मे विशेष महत्त्व माना जाता है, इसलिए उन्होने लिखा

दधि चिउरा उपहार अपारा। भरि भरि काँवरि चले कहारा॥

महाराज जनक द्वारा आयोजित बारात के स्वागत का सुदर वर्णन भी चर्चा के योग्य है

बस्तु सकल राखीं नृप आगें। बिनय कीन्हि तिन्ह अति अनुरागें॥
प्रेम समेत रायँ सबु लीन्हा। भै बकसीस जाचकन्हि दीन्हा॥
करि पूजा मान्यता बड़ाई। जनवासे कहुँ चले लवाई॥
बसन बिचित्र पाँवड़े परहीं। देखि धनदु धनु मदु परिहरहीं॥

राम आकर अपने पिता और बारातवालो से मिलते हैं। बारात कुछ दिनो तक विश्राम करती है। गोस्वामीजी ने लिखा है :

गए बीत कछु दिन एहि भाँती। प्रमुदित पुरजन सकल बराती॥
मगल मूल लगन दिनु आवा। हिमरितु अगहनु मासु सुहावा॥
ग्रह तिथि नखतु जोगु बर बारू। लगन सोधि बिधि कीन्हि बिचारू॥

पुरोहित बुलाये गए। महाराजा जनक के पुरोहित शतानदजी थे। मुनिगण इकट्ठे हुए। जनवासे से बारात के लोग द्वार पर लाये गए। इसका विशेष चित्रण देवताओ की दृष्टि से किया गया है, मानो कोई विमान में बैठकर इस प्रकार समारोह का अवलोकन कर रहा हो। रामचद्र और उनके भाई अपने घोडो पर चढकर आगे-आगे चले। स्त्रियो का ऐसे अवसर पर आनद-रस मे डूब जाना और मधुर सगीत द्वारा वातावरण को मधुरिमा से भर देना लोक-प्रचलित रीति है.

बिधुबदनीं सब सब मृगलोचनि । सब निज तन छबि रति मदु मोचनि ॥
पहिरें बरन बरन बर चीरा । सकल बिभूषन सजें सरीरा ॥
सकल सुमंगल अंग बनाएँ । करहिं गान कलकंठि लजाएँ ॥
कंकन किंकिनि नूपुर बाजहिं । चालि बिलोकि काम गज लाजहिं ॥

फिर सीताजी की माता परिछन करती हैं और वेदविहित रीति से सब व्यवहार होता है, आरती होती है और अर्घ्य दिया जाता है। तब राम मंडप में जाते हैं और दशरथ अपने समाज के साथ उपस्थित होते हैं। रामचंद्र को बैठाकर आरती की जाती है। लोग उनके ऊपर मणि, भूषण, वस्त्र आदि न्योछावर करते हैं :

नाऊ बारी भाट नट राम निछावरि पाइ ।
मुदित असीसहिं नाइ सिर हरषु न हृदयँ समाइ ॥

यह एक ऐसा अवसर है जब प्रत्येक जाति के प्रजाजन या परिजन उपहार पाते है, और यजमानी प्रथा के अनुसार उनको अनोपचारिक पुरस्कार मिलता है।

मंडप की विचित्र रचना वर्णन के योग्य है, जहा सीता और राम का विवाह-संस्कार संपन्न होता है। यहा जनक ब्राह्मणो और देवताओं की पूजा करते है। फिर राजा दशरथ की पूजा करते है, मुनियों की पूजा होती है और सबको उचित आसन मिलता है। सबको दान, मान और सम्मान मिलता है। एक ओर से गुरु वशिष्ठ उठते हैं, दूसरी ओर से शतानंद आते है। कुअर रामचंद्र मडप मे पहुंचते है और कुमारी सीता उधर से लाई जाती हैं। विप्र-वधू और वृद्ध जनो को बुलाकर, कुल-रीति के अनेक मंगलमय कार्य किये जाते हैं। ऐसे अवसर पर भगवती सीता के सौंदर्य मे और भी वृद्धि हो जाती है। मुनिवर शांति-पाठ पढ़ते हैं। सुनयना जनक की बाईं दिशा में बैठकर कन्या-दान का संस्कार संपन्न करती हैं और भावरे (सप्तपदी) होती है। इस अवसर पर राम और सीता की सुदरता का वर्णन करते हुए गोस्वामीजी लिखते है :

राम सीय सुंदर प्रतिछाहीं । जगमगात मनि खंभन माहीं ॥
मनहुँ मदन रति धरि बहु रूपा । देखत राम बिआहु अनूपा ॥
दरस लालसा सकुच न थोरी । प्रगटत दुरत बहोरि बहोरी ॥

इसके बाद विवाह-विधि हुई

प्रमुदित मुनिन्ह भावरी फेरीं । नेग सहित सब रीति निवेरीं ॥
राम सीय सिर सेंदुर देहीं । सोभा कहि न जाति बिधि केहीं ॥
अरुन पराग जलजु भरि नीकें । ससिहि भूष अहि लोभ अमी कें ॥
बहुरि बसिष्ठ दीन्हि अनुसासन । बरु दुलहिनि बैठे एक आसन ॥

जिस प्रकार रामचद्र का विवाह हुआ, उसी प्रकार लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न का विवाह भी महाराज जनक के छोटे भाई की कन्याओ उर्मिला, माडवी और श्रुतकीर्ति के साथ हुआ। यहा भी दहेज का वर्णन आता है। रामचद्र पीला जनेऊ धारण करते हैं, पीला वस्त्र पहनते हैं, और फिर सारी बारात के लिए जेवनार की—भोजन की—व्यवस्था होती है

पुनि जेवनार भई बहु भाँती । पठए जनक बोलाइ बराती ॥
परत पाँवड़े बसन अनूपा । सुतन्ह समेत गवन कियो भूपा ॥

स्वय जनक महाराज दशरथ के चरण धोते है और फिर रामचद्र के और तीनो भाइयो के। सबको उचित आसन दिया जाता है। राजा जनक लौटती हुई बारात के लिए भी भोजन आदि की व्यवस्था करते है। विदा के समय वही मार्मिक प्रसग उपस्थित होता है। सीताजी अपनी मा से मिलती है, सखियो से मिलती हैं और विदा मागती है। उनकी मा उन्हें समझाती है—नारी-धर्म, कुल-रीति आदि सिखाती है और सीता जनकपुरी को छोडकर हमेशा के लिए अयोध्या के लिए प्रस्थान करती हैं। अयोध्या मे आकर वह बहुत शीघ्र ही इस नये परिवार मे घुल-मिल जाती है, मानो वह उस परिवार की ही कन्या हो।

मृत्यु

मृत्यु जीवन की ऐसी अनिवार्य घटना है, जिससे कोई भी व्यक्ति

छुटकारा नही पा सकता। इसके भय से मनुष्य का आध्यात्मिक और दार्शनिक विषयो की ओर झुकाव होता है और इसके दु.ख से वह छुटकारा पाने का प्रयास करता है।

मृत्यु से एक चलते-फिरते, बोलते-चालते अर्थात् जीवित शरीर की सारी क्रियाएं समाप्त हो जाती हैं। परिवार का पोषण करनेवाले पिता, रक्षा करनेवाले स्वामी या स्नेह के आधार शिशु छिन जाते है और मनुष्य विवश देखता है। कभी-कभी वह इस विभीषिका से विचलित भी हो जाता है, पर प्रायः इसे भूला रहता है। इसलिए युधिष्ठिर ने कहा था :

अहन्यहनि भूतानि गच्छन्ति यममदिरम्।
शेषा स्थावरमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम्॥

मृत्यु की विभीषिका को भूलने के लिए सभी समाजो मे कुछ संस्कारो का विकास किया गया, जो तर्क की दृष्टि से व्यर्थ मालूम होते है, लेकिन दु खी परिवार के हृदय को कर्मकाड मे लगाकर उसका दु.ख कम करते है। इसलिए मृत्यु के सस्कार का भी महत्त्व है। इस अवसर पर रोना-धोना या अंत्येष्टि आदि की विस्तृत क्रियाओ मे लग जाना मन को शाति देता है और इस दु.ख को सहन करने की शक्ति मिलती है।

रामचरितमानस में महाराज दशरथ की मृत्यु के संस्कार का विस्तृत वर्णन है। महाराज दशरथ ने प्राणप्रिय श्रीराम को वन जाने तो दिया, पर इस दु ख को वह सह न सके। वह पानी से निकली हुई मछली की तरह तड़पते रहे और कौशल्या के समझाने पर भी उनकी स्थिति मे विशेष अंतर नही आया :

धरि धीरजु उठि बैठ भुआलू। कहु सुमंत कहँ राम कृपालू॥
कहाँ लखनु कहँ रामु सनेही। कहँ प्रिय पुत्रबधू बैदेही॥
बिलपत राउ बिकल बहु भाँती। भइ जुग सरिस सिराति न राती॥

उन्हे श्रवणकुमार के पिता के श्राप की याद आई और फिर तो मनोवैज्ञानिक कारण से उनकी जीवन-लीला समाप्त हो गई, क्योंकि

राम के बिना उनकी जीने की सकल्प-शक्ति जाती रही ·

-भयउ बिकल बरनत इतिहासा। राम रहित धिग जीवन आसा॥
सो तनु राखि करब मैं काहा। जेहिं न प्रेम पनु मोर निबाहा॥
हा रघुनदन प्रान पिरीते। तुम्ह बिनु जिअत बहुत दिन बीते॥
हा जानकी लखन हा रघुबर। हा पितु हित चित चातक जलधर॥

महाराज दशरथ के मरने पर सभी रानिया शोक से विह्वल हो गईं और उनके रूप, बल, शील और तेज का वर्णन करके विलाप करने लगी

करहिं बिलाप अनेक प्रकारा। परहिं भूमितल बारहिं बारा॥
बिलपहिं बिकल दास अरु दासी। घर घर रुदनु करहिं पुरबासी॥

आचार्य विनोबा ने गीता-प्रवचन मे इस प्रथा की आलोचना की है। विवेक से विचार करने पर यह व्यर्थ ही मालूम होती है। भगवान् कृष्ण ने भी गीता मे कहा है ·

गतासूनगतासूंश्च नानुशोचति पंडिताः।

पर मानस ने इसका व्यावहारिक और मनोवैज्ञानिक पक्ष लिया है, दार्शनिक नही, इसीलिए तो भरत ने कहा था .

जद्यपि सबु समुझत हौं नीके। तदपि होत परितोष न जी के॥

गुरु वशिष्ठ ने आकर सब लोगो के शोक का निवारण किया। धर्म और अध्यात्म की शिक्षा दी। विभिन्न धर्मों मे इस प्रकार पुरोहित, पादरी या मौलवी मृत्यु के समय परिवार के समक्ष आकर उनको विशेष सात्वना प्रदान करते है।

महाराज दशरथ की मृत्यु के समय राम और लक्ष्मण वन मे थे। भरत और शत्रुघ्न ननिहाल मे थे। इस कारण तुरत अत्येष्टि क्रिया न की जा सकी। शव को तेल मे रखा गया और भरत को बुलाया गया। ब्राह्मणो को भोजन कराया गया। अनेक प्रकार के दान दिये गए और कल्याण-मंगल और शुद्धि के लिए अभिषेक किये गए।

भरत आते हैं, मार्ग के ऐसे अपशकुनो से उनका हृदय आशकित हो

जाता है। राम के वन-गमन और दशरथ के मरने का समाचार भरत के लिए बज्र-प्रहार जैसा था, परन्तु दशरथ की अत्येष्टि-क्रिया की व्यवस्था तो करनी ही है। इसलिए :

बामदेव बसिष्ठ तब आए। सचिव महाजन सकल बोलाए ॥
मुनि बहु भाँति भरत उपदेसे। कहि परमारथ बचन सुदेसे ॥
तात हृदयँ धीरजु धरहु करहु जो अवसर आजु।
उठे भरत गुर बचन सुनि करन कहेउ सबु साजु ॥

और इसलिए भरत धैर्य धारण करके अत्येष्टि-क्रिया की व्यवस्था आरभ करते है

नृपतनु बेद बिदित अन्हवावा। परम बिचित्र बिमानु बनावा ॥
गहि पद भरत मातु सब राखी। रही रानि दरसन अभिलाषी ॥
चंदन अगर भार बहु आए। अमित अनेक सुगंध सुहाए ॥
सरजु तीर रचि चिता बनाई। जनु सुरपुर सोपान सुहाई ॥
एहि बिधि दाह क्रिया सब कीन्ही। बिधिवत न्हाइ तिलांजुलि दीन्ही ॥
सोधि सुमृति सब बेद पुराना। कीन्ह भरत दसगात बिधाना ॥
जहँ जस मुनिबर आयसु दीन्हा। तहँ तस सहस भाँति सबु कीन्हा ॥
भए बिसुद्ध दिए सब दाना। धेनु बाजि गज बाहन नाना ॥
सिघासन भूषन बसन अन्न धरनि धन धाम।
दिए भरत लहि भूमिसुर भे परिपूरन काम ॥

महाराज दशरथ के शरीर को कर्मकाड के अनुसार नहलाया जाता है। सुदर विमान बनता है। रानिया और भरत उसको इस विमान पर रखते हैं। चंदन, अगर आदि सुगधित पदार्थ लाये जाते हैं। सरयू के तीर पर चिता बनाई जाती है। विधिवत् दाह-क्रिया की जाती है। भरत तिलाजलि देते है। श्रुति और स्मृति के अनुसार भरत दशगात्र की व्यवस्था करते है। जहा-तहा मुनि जिस प्रकार का आचरण करने का आदेश देते हैं, भरत उसी प्रकार का आचरण करते है और दस दिन के बाद दान-पुण्य देकर सब लोग शुद्ध होते है।

इसके बाद वशिष्ठ धर्म और इतिहास की चर्चा करके भरत के मन में कर्तव्य-भावना पैदा करते हैं और सामान्य आचरण का एक ऐसा उपदेश देते हैं कि वस्तुत. दशरथ के प्रति किसीको शोक नही होना चाहिए; क्योंकि शोक के योग्य तो वे हैं जो अपने धर्म का पालन नही करते। यहा गोस्वामीजी ने शोचनीय व्यक्तियो की एक तालिका-सी बना दी है, जो अपने अनुभव की गभीरता की दृष्टि से अपूर्व है। वह कहते है :

सोचिअ विप्र जो वेद बिहीना। तजि निज धरमु बिषय लवलीना॥
सोचिअ नृपति जो नीति न जाना। जेहि न प्रजा प्रिय प्रान समाना॥
सोचिअ बयस कृपन धनवानू। जो न अतिथि सिव भगति सुजानू॥
सोचिअ सुद्र बिप्र अवमानी। मुखर मानप्रिय ग्यान गुमानी॥
सोचिअ पुनि पति बंचक नारी। कुटिल कलहप्रिय इच्छाचारी॥
सोचिअ बटु निज ब्रतु परिहरई। जो नहिं गुर आयसु अनुसरई॥
सोचिअ गृही जो मोहबस करइ करम पथ त्याग।
सोचिअ जती प्रपंच रत बिगत बिबेक बिराग॥

वह बताते हैं कि शोक के योग्य वह राजा है जो नीति नही जानता और प्रजा को अपने प्राणो के समान नही मानता ; शोक के योग्य वह धनवान है जो कृपण है जो अतिथियो का आदर-सत्कार नही करता।

बैखानस सोइ सोचै जोगू। तपु बिहाइ जेहि भावइ भोगू॥
सोचिअ पिसुन अकारन क्रोधी। जननि जनक गुर बंधु बिरोधी॥

फिर अपकारी, स्वार्थी, छली आदि व्यक्तियो के प्रति शोक करने की सलाह दी गई है। महाराज दशरथ का चरित्र तो इतना उदार और विशाल था कि उनके लिए शोक करने का कोई प्रश्न ही नही उठता। इसलिए बडे निश्चय के साथ महाराज वशिष्ठ ने कहा

सोचनीय नहिं कोसलराऊ। भुवन चारिदस प्रगट प्रभाऊ॥

मृत्यु का यह सकट धर्म, इतिहास और पुराण की चर्चा से बहुत-कुछ भुला दिया जाता है और परिवार और समाज के लोग धीरे-धीरे अपने को नई परिस्थिति मे ढाल लेते हैं।

: ८ :

शासन-प्रणालियां

रामचरितमानस में हमें तीन प्रकार के शासकों या नेताओ के उदाहरण मिलते है :

१. लोकतान्त्रिक,

२. अधिनायकवादी और

३. शिथिल स्वेच्छाचारी ।

लोकतांत्रिक शासन मे समूह के हर व्यक्ति को अपनी बात कहने का अवसर मिलता है और समूह के काम को आगे बढाने की बराबर सुविधा रहती है। दल का नेता यह प्रयत्न करता है कि समूह का हर व्यक्ति अपनी आतरिक शक्ति का विकास करे, दल के कार्यों को अधिक-से-अधिक सफल बनाने के लिए पूरा योगदान दे और सभी सदस्यों की आस्था दल- में बनी रहे। वह कोई निर्णय स्वयं नही करता, बल्कि दल के सदस्यों की अनुमति से किसी निर्णय पर पहुंचता है। उसके दल का सामाजिक वातावरण शात, प्रसन्नतापूर्ण और प्रगतिशील होता है।

आधिकारिक या अधिकनायकवादी नेता दल के लक्ष्य और कार्य करने की विधि को स्वयं निश्चित करता है। दल के सदस्यो को समय-समय पर वह आदेश देता है कि कौन क्या काम करे, दल मे भय का वातावरण रखता है और सभी सदस्यो के लिए स्वयं निर्णय करता है। उसकी अनुपस्थिति मे दल के सदस्य दल के प्रति कोई आस्था नही रखते और दल निर्बल पड जाता है। उसके अनुशासन मे भय से उत्पन्न भ्रांति भरी रहती है। वह हर कार्य की सफलता का पक्ष स्वय लेता है और असफलता के लिए किसी और को दोषी ठहराता है। इसलिए दल के सदस्यो में अभिक्रम का विकास नही होता।

शिथिल, स्वेच्छाचारी दल मे दल का नेता केवल उपस्थित रहता है। वह स्वय न कोई निश्चय करता है और न किसी निश्चय-विशेष पर पहुचने मे सदस्यो की सहायता करता है। कार्य को जैसे-तैसे बढने देता है। असफलता या प्रगति की कमी पर लोगो को कभी-कभी धमकी देता है, पर उस धमकी को भी कार्यान्वित नही करता।

रामचरितमानस मे राम और भरत लोकतन्त्रवादी शासक हैं। रावण अधिनायकवादी है और सुग्रीव शिथिल स्वेच्छाचारी।

लोकतांत्रिक

रामचद्र बचपन से बडे शात और उदार स्वभाव के थे। गोस्वामीजी ने उनकी इस प्रवृत्ति का बडे सुदर ढग से वर्णन किया है.

अनुज सखा सँग भोजन करही। मातु पिता अग्या अनुसरहीं॥
जेहि विधि सुखी होहिं पुर लोगा। करहिं कृपानिधि सोइ सँजोगा॥
बेद पुरान सुनहिं मन लाई। आपु कहहिं अनुजन्ह समुझाई॥
प्रातकाल उठि कै रघुनाथा। मातु पिता गुरु नावहिं माथा॥
आयसु मागि करहिं पुर काजा। देखि चरित हरषै मन राजा॥

उनमे अभिमान नही था। माता-पिता की आज्ञा का पालन करने मे, अपने भाइयो एव मित्रो के साथ समानता का व्यवहार करने मे और पुर के लोगो को सब प्रकार से प्रसन्न रखने मे वह अद्वितीय थे। मन लगाकर वेद पढते और सुनते थे, स्वय कहते और छोटे भाइयो को पढकर सुनाते थे। प्रात काल माता-पिता के चरणो को प्रणाम करते तथा उनकी आज्ञा से अवधपुरी की सेवा करते थे। उनकी यह प्रवृत्ति उनके व्यक्तित्व के विकास के साथ-साथ विकसित होती गई। राज्य-भार ग्रहण करने के पश्चात् :

एक बार रघुनाथ बोलाए। गुरु द्विज पुरवासी सब आए॥
बैठे गुर मुनि अरु द्विज सज्जन। बोले बचन भगत भय भंजन॥
सुनहु सकल पुरजन मम बानी। कहउँ न कछु ममता उर आनी॥

नहिं अनीति नहिं कछु प्रभुताई। सुनहु करहु जो तुम्हहि सुहाई॥
सोइ सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानै जोई॥
जो अनीति कछु भाषों भाई। तौ मोहि बरजहु भय बिसराई॥
बड़े भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथहि गावा॥
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहिं परलोक सँवारा॥

एक बार रामचद्र ने अपने गुरु वशिष्ठ को, सस्कारवान् द्विज लोगो को और समस्त पुरवासी जनता को बुलाया। वशिष्ठ के, मुनियो के और सुदर आचरण-शीलवाले द्विज लोगो के बैठ जाने पर रामचंद्र ने बहुत सरलता और नम्रता से कहा, "अयोध्यापुरवासी, आप सभी लोग मेरी बात सुनें। मैं अहंकार लेकर यह बात नही कह रहा हूं, न इसमें अनीति की कोई बात है, न अधिकार और अधिनायकवाद की। मेरा सबसे प्रिय वही है, जो मेरे अनुशासन को मानता है। हे भाई, फिर भी यदि मैं कोई अनीति की बात कहूं तो आप मुझे अवश्य रोक दीजिये, इसमें जरा-सा भी भय या संकोच न मानिये। मनुष्य का शरीर बडे भाग्य से मिलता है। देवता लोग भी उसे कठिनाई से पाते हैं। मनुष्य का शरीर साधन का धाम और मोक्ष का द्वार है। इसे पाकर जो अपना परलोक नही सुधारता, वह दुःख पाता है, सिर धुनकर पछताता है और केवल कर्म और ईश्वर को मिथ्या दोष लगाता है।"

रामचद्र यहा पर व्यक्ति के विकास के लिए एक बहुत ऊंची नीति का विवेचन कर रहे हैं। वह भी बड़ी निर्मलता और सरलता के साथ। उनकी इसी नीति के कारण राम-राज्य युग-युग के लिए एक आदर्श बन गया। गोस्वामीजी ने इसका बडा विशद वर्णन किया है। निपाद के साथ रामचंद्र के व्यवहार से आजकल भी उन छुआ-छूत माननेवालों को लज्जा से सिर झुका लेना चाहिए, जो मनुष्य-मनुष्य मे अंतर करते हैं और अपने अहकार से हरिजनो और आदिवासियों के साथ दुर्व्यवहार करते हैं। रामचंद्र ने :

पुनि कृपाल लियो बोलि निषादा। दीन्हें भूषन बसन प्रसादा॥

जाहु भवन मम सुमिरन करहू । मन क्रम वचन धर्म अनुसरहू ॥
तुम्ह मम सखा भरत सम भ्राता । सदा रहेहु पुर आवत जाता ॥

निषाद को भरत के समान सखा बताकर आर्य जाति और वनवासी आदिम जातियो के अतर को उन्होने समाप्त कर दिया । इसीलिए तो राम के राज्य की सबसे बडी विशेषता थी

वैर न कर काहू सन कोई । राम प्रताप विषमता खोई ॥

रामराज्य की विशेषता की चर्चा पहले की जा चुकी है । यहा हमने केवल उनके लोकतान्त्रिक नेतृत्व और शील-स्वभाव का ही सक्षिप्त परिचय दिया है । परशुराम के साथ नम्रता, लक्ष्मण के साथ बडे भाई की स्नेह-आर्द्रता, माता-पिता की आज्ञाओ का पालन, गुरुजनो के प्रति श्रद्धा, मनुष्य-मात्र के प्रति आदर, भरत के प्रति सरस उदारता और शबरी के साथ ज्ञान-चर्चा आदि रामचद्र के विशद चरित्र के कुछ उदाहरण हैं । सुग्रीव के साथ, समुद्र के साथ, यहा तक कि रावण के साथ भी वह लोकतान्त्रिक मर्यादा का ध्यान रखते हैं । सुग्रीव की भालू और वानर-सेना के बीच वह परामर्श करते है और सबकी राय से ही काम करते है :

इहाँ प्रात जागे रघुराई । पूछा मत सब सचिव बोलाई ॥
कहहु बेगि का करिअ उपाई । जामवंत कह पद सिरु नाई ॥
सुनु सर्बग्य सकल उर बासी । बुधि बल तेज धर्म गुन रासी ॥
मंत्र कहउँ निज मति अनुसारा । दूत पठाइय बालि कुमारा ॥
नीक मंत्र सब के मन माना । अगद सन कह कृपानिधाना ॥
बालितनय बुधि बल गुन धामा । लंका जाहु तात मम कामा ॥

रामचद्र के पूछने पर कि अब क्या किया जाय, जामवंत ने अपनी राय के अनुसार निर्भय सलाह दी । फिर उस राय के सबध मे सबकी सलाह ली । यह अच्छी मंत्रणा जब सबको पसद आ जाती है तब रामचंद्र उसपर तुरत कार्य करते हैं । अगद के बुद्धि, बल और गुणो की प्रशसा करते हुए वह कहते है, "प्रियवर, तुम लका जाओ, इसमें मेरा अपना काम है ।" इन शब्दो मे वह मानो पहले ही आभार प्रकट कर देते है ।

इस प्रकार हम देखते है कि राम एक सहज, सरल और लोकतंत्र की मर्यादा रखनेवाले राजकीय नेता हैं, जिनमें राजा होने का अभिमान नही, राज्य की ममता नही और जो पूरे दल को साथ लेकर अपनी और दल के सदस्यो के उद्देश्य की पूर्ति करते हैं। अतकथा के अनुसार सुग्रीव के वानर और भालू सैनिक वस्तुतः देवता थे, जो रावण के विनाश मे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से राम का साथ देना चाहते थे, इसलिए सीता को खोजकर उनका समाचार लाना और उन्हे वापस कराने मे सहायता देना उनका अपना काम था।

रामचंद्र की यह रीति-नीति उन्हें उनके भक्तो का परमाराध्य बना देती है। इसीलिए गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है :

जानत प्रीति रीति रघुराई।

प्रजातत्र की रीति प्रीति की ही रीति है। इसमें वस्तुतः नीति और प्रीति का समन्वय है।

अधिनायकवादी

रामचंद्र जितने ही लोकतंत्रवादी थे, रावण उतना ही अधिनायक-वादी था। अपनी किसी भी समस्या को हल करने के लिए अपने मन मे जो विचार आ जाय, उसीपर डटे रहना और किसी भी हालत में किसी मंत्री, सलाहकार, संबंधी या प्रियजन के सुझावो को बिलकुल अनसुना कर देना अधिनायकवादी नेतृत्व की विशेषता है। अपने अभिमान की रक्षा करने के लिए बड़े-से-बड़ा बलिदान करने के लिए तत्पर रहना और दूसरी की सलाह को कायरता या मूर्खतापूर्ण समझना अधिनायकवादी व्यक्ति के लिए स्वाभाविक व्यवहार है। यह सुनकर कि राम की सेना समुद्र-तट तक आ चुकी है, रावण की धर्मपत्नी मंदोदरी को बड़ी चिंता हुई। वह हाथ जोड़कर अपने पति के चरणो मे पड गई और बड़े प्रेम से नीतिमय शब्दों में उसने कहा :

कंत करष हरि सन परिहरहू। मोर कहा अति हित हियँ धरहू॥

समुझत जासु दूत कइ करनी। स्रवहिं गर्भ रजनीचर घरनी॥
तासु नारि निज सचिव बोलाई। पठवहु कंत जो चहहु भलाई॥

उसकी बात सुनकर परपरा से प्रसिद्ध अभिमानी रावण जोर से हँस पडा और बोला

सभय सुभाउ नारि कर साँचा। मगल महुँ भय मन अति काँचा॥
जौं आवइ मर्कट कटकाई। जिअहिं बिचारे निसिचर खाई॥
कपहिं लोकप जाकी त्रासा। तासु नारि सभीत बड़ि हासा॥

अपनी धर्मपत्नी की उचित सलाह ठुकराकर रावण दरबार मे गया। दरबारी लोग चाटुकारिता के लिए प्रसिद्ध माने जाते हैं, इसलिए दरबारियो ने अपनी परपरागत कर्तव्य भावना को निभाया। जब रावण ने कहा, 'सुनते है कि राम की सेना समुद्र-तट के पार आ गई है, आप लोग बतायें कि अब उचित राय क्या है ? मुझे ऐसी परिस्थिति में क्या करना चाहिए ?' तो अभिमानी प्रशासक के सहायक और मत्री वह बात नही कहते, जिसे वे उचित समझते है, बल्कि ऐसी बात कहते हैं जिसे सुनकर उनका स्वामी प्रसन्न हो। यह दूरदर्शी नीति नही, न उचित प्रकार की स्वामिभक्ति है। पर अभिमानी शासक के समक्ष उचित बात कहकर और उसे रुष्ट कर उसके द्वारा दिये हुए दड को सहन करने की नैतिक शक्ति बहुत कम लोगो मे होती है। इसलिए रावण के मत्री ने इस सलाह का जवाब हँसी मे टाल दिया और रावण से कहा, 'आप निश्चित रहें। आपने जब इद्र-आदि देवताओ को जीत लिया तब आपको ज़रा-सा भी कष्ट नही हुआ। आदमियो और वानरो की आपके सामने क्या हस्ती है।'

तुलसीदासजी ने इस स्थान पर नीति का बडा सुदर दोहा लिखा है·

सचिव बैद गुर तीनि जौं प्रिय बोलहिं भय आस।
राज धर्म तन तीनि कर होइ बेगिही नास॥

रावण के दरबारी बार-बार रावण की प्रशसा कर रहे थे। जाने या अनजाने वे एक प्रकार से उसे धोखा दे रहे थे। उनकी इस प्रवृत्ति

के लिए रावण स्वय उत्तरदायी था, क्योंकि अपने मन के विपरीत बात वह शायद सहन नही कर सकता था। इसका प्रमाण विभीषण के प्रसग मे मिलता है :

अवसर जानि विभीषनु आवा। भ्राता चरन सीसु तेहिं नावा॥
पुनि सिरु नाइ बैठ निज आसन। बोला बचन पाइ अनुसासन॥
जौं कृपालु पूंछेहु मोहि बाता। मति अनुरूप कहउँ हित ताता॥
जो आपन चाहइ कल्याना। सुजसु सुमति सुभ गति सुख नाना॥
सो परनारि लिलार गोसाईं। तजउ चौथि चंदा की नाईं॥
चौदह भुवन एक पति होई। भूत द्रोह तिष्टइ नहिं सोई॥
गुन सागर नागर नर जोऊ। अलप लोभ भल कहइ न कोऊ॥
काम क्रोध मद लोभ सब नाथ नरक के पंथ।
सब परिहरि रघुबीरहि भजहु भजहिं जेहि संत॥

स्त्री की बात तो रावण ने परिहास मे टाल दी थी, पर भाई की बात पर उसे बडा क्रोध हुआ। विभीषण ने अपने विचार बडी नम्रता से रावण के सामने रखे थे। कुल की परपरा, धर्म और नीति की मर्यादा और राज्य और प्रजा की रक्षा को विचार मे रखते हुए विभीषण ने सलाह दी थी कि रावण सीता को लौटा दे और राम से वैर न करे। माल्यवत नामक समझदार मत्री ने भी उनकी बात का समर्थन किया था और कहा था :

तात अनुज तव नीति विभूषन। सो उर धरहु जो कहत विभीषन॥

पर रावण की प्रतिक्रिया वैसी ही हुई जिसकी आशा की जाती थी। उसने क्रोधपूर्वक कहा :

रिपु उतकरष कहत सठ दोऊ। दूरि न करहु इहां हइ कोऊ॥

माल्यवत मंत्री था, उसने समझ-बूझकर बात की और रावण को क्रोधित जानकर घर चला गया। पर विभीषण भाई था, उसने रावण के क्रोध की परवाह न कर कुछ और आग्रह किया। पर जितना ही उसने अधिक आग्रह किया और शास्त्रो और पुराणों की कही हुई नीति

की बात कही, उतना ही रावण का क्रोध बढता गया। और .

सुनत दसानन उठा रिसाई। खल तोहि निकट मृत्यु अब आई॥
जिअसि सदा सठ मोर जिआवा। रिपु कर पच्छ मूढ़ तोहि भावा॥
कहसि न खल अस को जग माहीं। भुजबल जाहि जिता मैं नाहीं॥
मम पुर बसि तपसिन्ह पर प्रीती। सठ मिलु जाइ तिन्हहि कहु नीती॥
अस कहि कीन्हेसि चरन प्रहारा। अनुज गहे पद बारहिं बारा॥

विभीषण के मन पर इसकी इतनी भीषण प्रतिक्रिया हुई कि वह रामचद्र से जाकर मिल गया

रावन जबहिं बिभीषन त्यागा। भयउ विभव बिनु तबहिं अभागा॥

रामचद्र ने उन्हे शरण दी। विभीषण को रामचद्र ने सहज ही सारा वैभव दिया :

जो संपति सिव रावनहिं दीन्हि दिएँ दस माथ।
सोइ सपदा विभीषनहि सकुचि दीन्हि रघुनाथ॥

सारी सैनिक शक्ति और प्रभुता के होते हुए भी अधिनायकवादी रावण युद्ध मे परास्त हुआ और उसका दर्प चूर्ण हो गया। कुछ समय तक अधिनायकवादी व्यक्ति विजय प्राप्त करता है और इच्छित कार्य करा लेने मे सफलता प्राप्त करता है; पर उसके सैनिको की नैतिक शक्ति बहुत निर्बल होती है, इसलिए वह न्यायपूर्ण विरोधी के सामने टिक नही पाता। उसके नेतृत्व मे जन-शक्ति का अपव्यय बहुत होता है। जब रावण आदेश देता है कि अगद को पकड लो, तो एक सभासद नही वरन् अनेक इधर-उधर दौड पडते है। इससे अनुशासनहीनता भी बढती है। अधिनायकवादी अपने अहकार मे विनाश से नही घबराता, जबतक सर्वनाश न हो जाय। रावण भी लडता गया। उसके सभी सेनापति, सैनिक और पुत्र मारे गये, पर वह अपने अहकारपूर्ण निर्णय से विचलित नही हुआ।

शिथिल स्वेच्छाचारी

रामचरितमानस में सुग्रीव का चरित्र ऐसे राजा का चरित्र है, जो शरीर और मन से निर्बल है और जो अपना कर्तव्य भूल जाता है। शत्रुओं के सामने कायरता दिखाता है, अधीनस्थ कार्यकर्ताओं के ऊपर शासन जमाता है और इस प्रकार का आचरण दिखलाता है कि उसे एक शिथिल स्वेच्छाचारी शासक की श्रेणी मे रखा जा सकता है।

सुग्रीव का पहला परिचय उनके सभीत स्वभाव से मिलता है :

तहँ रह सचिव सहित सुग्रीवा। आवत देखि अतुल बल सींवा ॥
अति सभीत कह सुनु हनुमाना। पुरुष जुगल बल रूप निधाना ॥
धरि बटु रूप देखु तैं जाई। कहेसु जानि जियँ सयन बुझाई ॥
पठए बालि होहिं मन मैला। भागौं तुरत तजौं यह सैला ॥

सुग्रीव हनुमान को भेद लेने के लिए भेजता है। उसे इस बात का भय है कि यदि बालि ने रामचंद्र से पहले मित्रता कर ली, तो उसे ऋष्यमूक पर्वत छोड़कर कही और भागना पडेगा।

हनुमान ने रामचंद्र का साक्षात्कार करके और अपने रूप का रहस्य प्रकट करके सुग्रीव का परिचय दिया :

नाथ सैल पर कपिपति रहई। सो सुग्रीव दास तव अहई ॥
तेहि सन नाथ मयत्री कीजे। दीन जानि तेहि अभय करीजे ॥
सो सीता कर खोज कराइहि। जहँ तहँ मरकट कोटि पठाइहि ॥

सुग्रीव रामचंद्र से बड़ी नम्रता के साथ मिले और उनके चरणों मे अपना मस्तक रखा। भगवान् राम ने समता के अपने आदर्श के अनुसार अपने भाई की तरह उन्हें गले लगाया। हनुमान की मध्यस्थता से अग्नि की साक्षी देकर भगवान् राम और सुग्रीव की मित्रता जोड़ी गई, उनके बीच में कोई अंतर नही रह गया। लक्ष्मण ने रामचद्र की शक्ति का वर्णन किया और हनुमान ने सुग्रीव की। सुग्रीव ने उन्हे आश्वासन दिया कि सीताजी का पता लग जायगा। उन्होने रामचंद्र को सीता द्वारा फेंका हुआ वस्त्र दिया। रामचंद्र उससे भाव-विभोर हो गये। तब सुग्रीव

ने कहा :

कह सुग्रीव सुनहु रघुबीरा। तजहु सोच मन आनहु धीरा॥
सब प्रकार करिहउँ सेवकाई। जेहि विधि मिलिहि जानकीमाई॥

फिर सुग्रीव ने अपना परिचय दिया और उसने बताया कि किस प्रकार मायावी की चुनौती पर बडे भाई बालि उससे लडने गये। सुग्रीव ने लगभग एक मास तक उनकी प्रतीक्षा की, पर, जिस गुफा मे बालि और मायावी लड रहे थे, उससे रुधिर निकला, तब यह सोचकर कि

बालि हतेसि मोहि मारिहि आई। सिला देइ तहँ चलेउँ पराई॥
मन्त्रिन्ह पुर देखा बिनु साई। दीन्हेउ मोहि राजु बरिआई॥

सुग्रीव का मायावी के भय से भाग चलना और मन्त्रियो के आग्रह पर राज्य स्वीकार कर लेना उनके दुर्बल स्वभाव के परिचायक है। सुग्रीव को कुछ देर और प्रतीक्षा करनी चाहिए थी, और बिना इस बात का पता लगाये कि बालि का क्या हुआ, राज्य-पद स्वीकार नही करना चाहिए था। बालि के लौटने पर उसे स्वाभाविक रूप से क्रोध आया कि सुग्रीव ने बिना परिस्थिति का पूरा अध्ययन किये हुए और बिना आवश्यक प्रतीक्षा किये हुए राज्य-भार अपने हाथ मे ले लिया।

रिपु सम मोहि मारेसि अति भारी। हरि लीन्हेसि सर्बसु अरु नारी॥
ताकें भय रघुबीर कृपाला। सकल भुवन मैं फिरेउँ बिहाला॥
इहाँ श्राप बस आवत नाहीं। तदपि सभीत रहउँ मन माहीं॥

यद्यपि बालि ऋष्यमूक पर्वत पर किसी शाप-वश नही आ सकता था और सुग्रीव इस बात को जानता भी था, फिर भी वह सदैव भयभीत रहता था। रामचद्र ने उन्हे आश्वासन दिया, परतु सुग्रीव को तबतक विश्वास नही हुआ, जबतक उनका पराक्रम स्वय उसने देख नही लिया :

सखा सोच त्यागहु बल मोरें। सब बिधि घटब काज मैं तोरें॥
कह सुग्रीव सुनहु रघुबीरा। बालि महाबल अति रनधीरा॥
दुंदुभि अस्थि ताल देखराए। बिनु प्रयास रघुनाथ ढहाए॥
देखि अमित बल बाढी प्रीती। बालि बधब इन्ह भइ परतीती॥

राम के अद्भुत पराक्रम को देखकर उनके मन में जो प्रीति बढी, वह सच्ची प्रीति नही थी, स्वार्थपूर्ण परावलबन था। भगवान् के चरणो मे बार-बार उसने सिर झुकाया और कहा .

उपजा ग्यान बचन तब बोला। नाथ कृपाँ मन भएउ अलोला॥
सुख संपति परिवार बड़ाई। सब परिहरि करिहउँ सेवकाई॥

सुग्रीव ने ऐसी विरागयुक्त बातचीत की और इस प्रकार आत्म-समर्पण किया कि उसे देखकर रामचंद्र भी मन मे हँस पड़े। सुग्रीव और बालि का युद्ध हुआ। राम ने बालि को पीछे से मारा। उनका यह व्यवहार विशुद्ध धर्मयुग के प्रतिकूल लगता है, परन्तु उनकी यह प्रतिज्ञा कि 'मै हर प्रकार से तुम्हारे काम आऊगा', पूरी हुई। बालि के मरने के बाद रामचद्र ने लक्ष्मण को भेजकर सुग्रीव को किष्किधा राज्य दिलाया और बालि के पुत्र अगद को युवराज का पद दिया गया। रामचद्र ने एक सदेश उन्हे दिया

अंगद सहित करहु तुम्ह राजू। संतत हृदयँ धरेहु मम काजू॥
जब सुग्रीव भवन फिरि आए। राम प्रबरषन गिरि पर छाए॥

कई मास बीत गये और सुग्रीव अपने राज-काज मे लग गये। उन्हे राम के प्रति अपने कर्तव्य की याद बिल्कुल भूल गई। स्वभावतः रामचद्र को उसके इस व्यवहार पर क्रोध आया और उन्हे कहा :

सुग्रीवहुँ सुधि मोरि बिसारी। पावा राज कोस पुर नारी॥
जेंहि सायक मारा मैं बाली। तेंहि सर हतौं मूढ़ कहँ काली॥

और लक्ष्मण को आदेश दिया :

तब अनुजहि समुझावा रघुपति करुना सींव।
भय देखाइ ले आवहु तात सखा सुग्रीव॥

रामचद्र ने केवल भय दिखाकर लाने का आदेश दिया था, क्योकि उनके मन मे अब भी सुग्रीव के लिए ममता थी। उधर हनुमान ने भी सुग्रीव को याद दिलाई। उसके बाद शिथिल स्वेच्छाचारी शासक की बडी दुर्बल प्रतिक्रिया हुई। उसके मन मे भय समा गया और उसने

आदेश दिया कि

अब मारुतसुत दूत समूहा । पठवहु जहँ तहँ बानर जूहा ॥
कहहु पाख महुँ आव न जोई । मोरें कर ता कर बध होई ॥

हनुमान ने उनके इस घवराहट के आदेश को आत्मसात् किया और अपने विवेकपूर्ण ढग से उसका पालन किया। अपना कर्तव्य भूलकर वेचारे वानर सैनिको को आकस्मिक आदेश देकर और आदेश के पालन न करने की सभावना मे उनका वध करने की धमकी देकर सुग्रीव ने अपनी प्रशासकीय निर्वलता का ही प्रमाण दिया था, पर हनुमान ने इस स्थिति को सभाला। उन्होने सभी सैनिको का पूरा-पूरा सम्मान किया और उन्हे भय के साथ प्रीति और नीति पर बल दिया ·

तब हनुमत बोलाए दूता। सब कर करि सनमान बहूता ॥
भय अरु प्रीति नीति देखराई। चले सकल चरनन्हि सिर नाई ॥

लक्ष्मण के पुर मे आने पर सुग्रीव उनके सामने नही आये। अगद को भेजकर उनके शालीन व्यवहार और विनय-अनुनय द्वारा परिस्थिति ठीक हुई। लक्ष्मण का क्रोध शात हुआ और सुग्रीव, लक्ष्मण और अगद के साथ रामचद्र के पास आये।

रामचद्र से मिलने पर सुग्रीव ने फिर एक वार बुद्धिवादी वहाना वनाया। अपनी भूल मे एक आध्यात्मिक और धार्मिक पुट दिया :

नाइ चरन सिरु कह कर जोरी। नाथ मोहि कछु नाहिन खोरी ॥
अतिसय प्रबल देव तव माया। छूटइ राम करहु जौं दाया ॥
बिषय वस्य सुर नर मुनि स्वामी। मैं पाँवर पसु कपि अति कामी ॥
नारि नयन सर जाहि न लागा। घोर क्रोध तम निसि जो जागा ॥

इस प्रकार नम्रतापूर्वक वात-चीत से फिर सुग्रीव ने रामचद्र का स्नेह प्राप्त किया। पर राम के हृदय मे सुग्रीव के लिए दया-भावना ही मुख्य थी, आदर या सम्मान नही।

सैनिक वानर भालुओ और जानकीजी की खोज के लिए चलने मे प्रजातान्त्रिक और स्वेच्छाचारी शासन-नीतियो का तुलनात्मक उदाहरण

मिल जाता है। एक ओर तो राम ने प्रत्येक सैनिक का कुशल-मंगल पूछा :

अस कपि एक न सेना माहीं। राम कुसल जेहि पूछा नाहीं ॥

दूसरी ओर सुग्रीव ने सबको बुलाकर आदेश दिया :

राम काजु अरु मोर निहोरा। बानर जूथ जाहु चहुँ ओरा ॥
जनकसुता कहुँ खोजहु जाई। मास दिवस महँ आएहु भाई ॥
अवधि मेटि जो बिनु सुधि पाएँ। आवइ बनिहि सो मोहि मराएँ ॥

फिर इस निर्बल प्रशासक ने एक बार सैनिकों के वध की धमकी दी, किन्तु अपने सचिवो और मन्त्रियो के लिए कार्य की एक साधारण-सी योजना बनाई और वीर अगद, हनुमान और मन्त्री जामवंत को सीता की खोज करने के लिए दक्षिण दिशा में भेजा। इन मन्त्रियों को भी उनके पद के अनुकूल आदेश नही दिया गया, बल्कि एक सामान्य सैनिक जैसा आदेश दिया गया और उनमे भी भय की भावना भर दी गई। इस प्रकार उसके उच्चाधिकारियो मे भी नैतिक पराभव आ गया :

इहाँ बिचारहिं कपि मन माहीं। बीती अवधि काज कछु नाही ॥
सब मिलि कहहिं परस्पर बाता। बिनु सुधि लएँ करब का भ्राता ॥
कह अगद लोचन भरि बारी। दुहुँ प्रकार भइ मृत्यु हमारी ॥
इहाँ न सुधि सीता कै पाई। उहाँ गएँ मारिहि कपिराई ॥
पिता बधे पर मारत मोही। राखा राम निहोर न ओही ॥
पुनि पुनि अंगद कह सब पाहीं। मरन भयउ कछु ससय नाहीं ॥
अगद बचन सुनत कपि बीरा। बोलि न सकहिं नयन बह नीरा ॥

परंतु जबतक इन लोगो मे भय समाया था, तबतक कार्य आगे नही बढा। अन्त में जामवत ने सैनिको मे, विशेषकर हनुमान और अंगद मे, उत्साह की नई भावना भर दी और तब सीता की खोज का प्रयास सफल हुआ। सीता की खोज होती है। हनुमान और अंगद अपने व्यक्तिगत पराक्रम और गुणो के कारण आगे आ जाते है और सुग्रीव का चरित्र पृष्ठभूमि मे पड जाता है। सुग्रीव राम की विजय के बाद लौटकर अपने राज्य में जाते है, किंतु अपने प्रशासन, अपने चरित्र या

अपने व्यवहार की कोई विशिष्ट छाप नही छोड पाते। अपने सैनिकों को प्रोत्साहन देने के स्थान पर भय दिखाते है और उनकी धमकी भी इतनी भयकर होती है कि उसका कोई महत्त्व नही रह जाता। उनकी धमकी मे अधिनायकवाद की झलक तो मिलती है, लेकिन उसका कोई स्थायी रूप न होने के कारण हम उन्हे शिथिल स्वेच्छाचारी शासक ही कह सकते है।

सुग्रीव का कार्य कुछ कुशल सैनिको या नेताओं के कारण चलता रहता है, पर उनके निजी नेतृत्व की प्रतिष्ठा नही हो पाती।

नेतृत्व की शिक्षा तथा विकास

जब कुछ लोग मिलकर कोई कार्य आरभ करते है और एक विशेष लक्ष्य की ओर अपने समुदाय की शक्ति और बुद्धि लगाते है, तो यह देखा जाता है कि उनमे से कोई कार्य के किसी विशेष अश मे अधिक रुचि या कुशलता दिखाता है, और कोई दूसरे अंश मे। काम करते-करते कोई व्यक्ति दूसरो को विशेष सलाह या सुझाव देता है, कुछ करके दिखाता है या उनको प्रोत्साहित करता है। दूसरा व्यक्ति कार्य के दूसरे अंश में इसी तरह अगुआ होता है। इसी प्रकार समुदाय मे नेतृत्व की रूप-रेखा बन जाती है।

नेता के लिए कुछ विशेष गुणों की आवश्यकता होती है। सामान्य रूप से नेता में विशेष बुद्धि, स्फूर्ति, शक्ति और आत्म-विश्वास होना चाहिए; लेकिन कोई व्यक्ति केवल इन्ही गुणो से नेता नही बन जाता। विशेष परिस्थिति मे जाकर, अपने से बड़ो से प्रोत्साहन और शिक्षा पाकर, अपनी छिपी हुई शक्ति पहचानकर और अपने कर्तव्य को समझ-कर ही कोई व्यक्ति नेता बन सकता है। नेता के लिए कार्य विशेष में कुशलता के अतिरिक्त सामाजिक प्रवृति का विकास आवश्यक होता है।

रामचरितमानस मे विश्वामित्र के यज्ञ की रक्षा मे रामचद्र नेता बनते है। धनुप-यज्ञ मे भी नेतृत्व राम और लक्ष्मण के हाथ में रहता है। वन मे भी राम, लक्ष्मण और सीता वनवासी कोल-किरातो के बीच में आर्य-सस्कृति का नेतृत्व करते है, पर विशेष नेतृत्व की परिस्थिति सीता-हरण के बाद आती है। सीता की खोज करने के लिए जब सुग्रीव अपने सैनिको और स्वयसेवको को आदेश देते है, तो उनमे से कोई भी जान-बूझकर या उत्साह के साथ इस काम के लिए तैयार नही होता। इसलिए

सुग्रीव सीता की खोज के लिए कठोरता के साथ आदेश और खोज न पाने पर प्राणदड की धमकी देते है। सपाती बताता है कि सीता को रावण हरण करके लका मे ले गया है। वृद्धावस्था के कारण उसमे कोई विशेष शक्ति नही रह गई है, इसलिए वह स्वय वही जाकर सीता की खोज करने मे असमर्थ है। समुद्र के किनारे सुग्रीव के बडे-बडे वीर योद्धा व मत्री बैठे हुए हैं। उनके मन मे बडा असमख है। उनमें शारीरिक शक्ति तो बहुत हैं, लेकिन समुद्र-पार जाने की शक्ति के सबंध मे उनके मन मे सदेह है। जागवंत भी वृद्ध हो गये हैं, उनके शरीर मे युवावस्था का बल नही। युवावस्था मे उन्होंने बलि के वामन-रूप मे पृथ्वी की भीख मागते समय विराट् के साथ पृथ्वी की दो घडी मे प्रदक्षिणा की थी, पर अब उनमे भी शक्ति नही रह गई थी।

ऐसे अवसरो पर सबसे अपनी कोरी प्रशंसा करनेवाले व्यक्ति सच्चे स्वयसेवक नही थे। उन्होने पार जाने मे अपनी शक्ति के प्रति शंका करके छुट्टी पा ली। पर इस सभा मे एक व्यक्ति और बैठा हुआ था। उसमे वाचालता नही थी, वह सकुचाया हुआ बैठा था। उसे अपनी शक्ति और बुद्धि का बोध नही था।

जामवत अनुभवी मत्री थे और वह जानते थे कि किस तरह से नेतृत्व का विकास किया जाता है, किस तरह लोगो को उनकी शक्ति और बुद्धि का अनुभव कराया जा सकता है। इसलिए उन्होने कहा .

जामबंत कह सुनु हनुमाना। का चुप साधि रहेहु बलवाना॥

वह हनुमान का नाम लेकर उसे सबोधित करते है। इतनी बड़ी सभा में व्यक्ति को गौरव देते है और फिर उससे प्रोत्साहन की भावना से पूछते है कि बलवान हनुमान, तुम चुप क्यो हो ? फिर हनुमान की प्रशसा मे वह कहते है '

पवन तनय बल पवन समाना। बुधि बिबेक बिग्यान निधाना॥
कवन सो काज कठिन जग माहीं। जो नहीं होइ तात तुम्ह पाहीं॥

वह पहले हनुमान की वंश-परपरा की चर्चा करते हैं और उन्हें

याद दिलाते हैं कि वह पवन-पुत्र हैं, जो आंधी और तूफान के रूप में विशाल वृक्षों को तोड़कर टुकड़े-टुकड़े कर देता है और मकानों को ढा देता है, प्रचंड बादलों को क्षण मे उड़ा देता है। वह यह भी कहते हैं कि केवल बलवान का पुत्र हो जाने से ही किसीमें बल आ जाय, यह आवश्यक नही, पर हनुमान में सचमुच पवन के समान बल है। केवल शारीरिक बल से कोई व्यक्ति महान् नेता नही बन सकता। बल के साथ बुद्धि और विवेक का होना भी जरूरी है। बलवान आदमी को जानना चाहिए कि वह कब क्या काम करे, या क्या नही करे। इस विवेक के अभाव में बलवान व्यक्ति अत्याचारी या आततायी हो जाता है और वह बल, विद्या या धन का उचित उपभोग नही कर सकता। कहा जाता है:

विद्या विवादाय धनं मदाय शक्तिः परेषां परपीडनाय।
खलस्य साधोः विपरीतमेतद् ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय॥

—"दुष्ट व्यक्तियो की विद्या दूसरों से विवाद करने में, धन अभिमान करने में और शक्ति अत्याचार करने में प्रयुक्त होती है। साधु, सज्जन या विवेकवाले व्यक्ति की विद्या ज्ञान के लिए धन दान के लिए और शक्ति दूसरों की रक्षा के लिए काम मे आती है। दोनो में यही अंतर है।" यहां इस प्रसंग मे जामवंत ने हनुमान को बुद्धि और विवेक का निधान ही नही बताया, वरन् विज्ञान का भंडार भी बताया। विज्ञान का अर्थ यहां आधुनिक विज्ञान से नही, वरन् आध्यात्मिक विद्या से है। इसका अर्थ यह हुआ कि हनुमान नैतिक और आध्यात्मिक हैं। इसके बाद प्रोत्साहन के ऊंचे स्वर में जामवंत हनुमान से पूछते है, 'हे तात, हे प्रिय, संसार में ऐसा कौन-सा कठिन काम है जो तुम नहीं कर सकते?' यह सुनते-सुनते हनुमान में नया जीवन आ गया। एक नई कांति आ गई, पर इस कांति का उत्कर्ष तब हुआ जब उनसे कहा गया:

राम काज लगि तव अवतारा। सुनतहिं भयउ पर्वताकारा॥

हनुमान का जीवन शक्ति, बुद्धि या विवेक के व्यर्थ प्रदर्शन के लिए नही था। उनके जीवन का एक ध्येय था, एक उत्तरदायित्व था, राम

का काज करना। धरती की पुत्री सीता की खोज करना और राम को उनके सास्कृतिक अभियान मे सहायता पहुचाना। जब हनुमान को यह मालूम हुआ कि उनके जीवन का एक महान् उद्देश्य है तो उनकी भुजाए फड़क उठी, उनका शरीर दमक उठा और वह पर्वत की तरह विशाल हो गये। भौतिक रूप मे पर्वत की तरह विशाल होना या अचल होने का तात्पर्य नही है। भावनाओ के आवेग मे सकोच मे पड़े हुए इस साधारण किंतु सच्चे सेनानी मे पहाड की-सी विशालता आ गई और फिर उनमे शारीरिक परिवर्तन हुआ। उसका विशद वर्णन गोस्वामीजी ने किया है:

कनक बरन तन तेज बिराजा। मानहुँ अपर गिरिन्ह कर राजा॥
सिंहनाद करि बारहिं बारा। लीलहिं नाघउँ जलनिधि खारा॥
सहित सहाय रावनहि मारी। आनउँ इहाँ त्रिकूट उपारी॥

उनका चेहरा सोने की तरह दमकने लगा, शरीर मे नई काति फैल गई। वह सारे पर्वतो के राजा हिमालय की तरह विशाल हो गये। उन्होने बार-बार सिंहनाद किया और कहा कि 'मै कौतुक के रूप मे सारे सागर को फाद सकता हू, रावण को उसके सहायको-साथियों सहित मार सकता हू। त्रिकूट पर्वत उखाडकर सारी लका को यहा ला सकता हू।' भावनाओ के आवेग मे इस प्रकार शारीरिक परिवर्तन होना स्वाभाविक मनोवैज्ञानिक सत्य है। क्रोध या उत्साह मे मनुष्य का चेहरा तमतमा उठता है, रक्त की गति तेज हो जाती है, स्वच्छ रक्त अधिक तेजी से दौडने लगता है और तब मनुष्य के शरीर में तेजी और चेहरे पर दमक आ जाती है। विशेष सकट मे और उत्साह के अभाव मे उसके शुद्ध रक्त की गति मद होती है और अशुद्ध रक्त अधिक मात्रा मे धमनियो मे दौडने लगता है। इससे मनुष्य का चेहरा मुरझा-सा जाता है। हनुमान को कुल-परपरा की याद दिलाने से, विवेक और बुद्धि की प्रशसा करने से, शक्ति को चुनौती देने से, नवीन चेतना आ जाती है। जामवत का यह प्रयास नेतृत्व के विकास मे मौलिक है। हनुमान को 'तात' सबोधित करना, उनके जीवन का ध्येय बताने की बात इसलिए महत्त्वपूर्ण बन जाती है।

हनुमान में उत्साह भर आया था। वह स्वयं सबकुछ कर सकते थे। रावण को मारकर त्रिकूट को लाना उनके लिए बड़ा सरल था, पर उनमें विवेक भी था। वह केवल स्वधर्म का पालन करना चाहते थे। इसलिए जामवत से उन्होने पूछा :

जामवंत मैं पूछउँ तोही। उचित सिखावनु दीजहु मोही॥

जामवंत हनुमान का दूत के रूप मे प्रयोग करना चाहते है। हनुमान ने केवल दूत का कार्य पूछा था। रावण को मारने और सीता को लाने का कार्य राम का था। यदि हनुमान उसे कर देते, तो समाज की मर्यादा भग हो जाती और राम और हनुमान के कर्तव्य में अनायास संघर्ष होता। इसलिए जामवंत उन्हें उपदेश देते है :

एतना करहु तात तुम्ह जाई। सीतहि देखि कहहु सुधि आई॥
तब निज भुज बल राजिवनैना। कौतुक लागि संग कपि सेना॥
कपि सेन संग सँघारि निसिचर रामु सीतहि आनिहैं॥

हनुमान उतना ही करते हैं, जितना उनका स्वधर्म है। श्रीमद्भगवद्-गीता मे लिखा है :

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मास्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥

समाज में प्रत्येक व्यक्ति के लिए अपना निश्चित कार्य करना ही अभीष्ट है। दूसरे के काम मे टांग अडाने में समाज का विघटन होता है और उसकी मान्यताए और मर्यादाएं नष्ट होती है।

नेतृत्व के विकास का दूसरा उदाहरण अंगद के प्रसंग में मिलता है। जब जामवंत लका जाने के लिए स्वयंसेवक तैयार करना चाहते है तो उस समय उस सभा मे अंगद भी पूछते है :

अंगद कहइ जाउँ मै पारा। जियँ ससय कछु फिरती वारा॥

साधारण परिस्थिति मे कोई तानाशाह प्रशासक अंगद का उत्साह भग करने के लिए यह कह सकता था, 'यदि आप वापस ही नही आ सकते तो स्वयंसेवकों मे नाम लिखाना व्यर्थ है। हम तो काम चाहते है

बहाना नही चाहते ।" पर जामवत कुशल और अनुभवी मत्री हैं। उनके मन मे अगद के लिए एक विशेष कर्तव्य है । वह कहते है :

जामवंत कह तुम्ह सब लायक । पठइअ किमि सबही कर नायक ॥

बहुत अधिक योग्य व्यक्ति को, जो सबका नायक हो सकता था और जो राजदूत का काम कर सकता था, उसे मात्र सदेशवाहक का काम देने मे बुद्धिमानी नही थी । अत अगद को असमर्थता के कारण नही, बल्कि भविष्य के महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए सुरक्षित कर लिया गया ।

बाद मे युद्ध शुरू होने से पूर्व अगद को राजदूत के रूप मे भेजने के प्रसग में गोस्वामीजी ने लिखा है कि जब राम ने सब मन्त्रियो को बुलाकर यह पूछा कि शत्रु को सदेश कैसे भेजा जाय ? तो जामवत ने कहा :

मंत्र कहहुँ निज मति अनुसारा। दूत पठाइअ बालि कुमारा ॥

बालि-कुमार को दूत के रूप मे भेजने का तात्पर्य यह था कि वह राजकुमार थे, राजदूत की मर्यादा से परिचित थें। उनकी दृष्टि चकाचौंध होनेवाली नही थी । उनका आत्मविश्वास डिगनेवाला नही था । यह विचार जब सर्वसम्मति से स्वीकृत हुआ, तब .

नीक मंत्र सब के मन आना । अगद सन कह कृपानिधाना ॥
बालितनय बुधि बल गुनधामा । लका जाहु तात मम कामा ॥

यहा रामचन्द्र स्वय बालि के वश, उनकी बुद्धि और बल की प्रशसा करते है और उन्हे लका भेजते हुए यह कहते हैं कि यह उनका व्यक्तिगत काम है । व्यक्तिगत अनुग्रह मानकर अगद की कर्मनिष्ठा के प्रति और अधिक प्रेरणा देते हैं। वह अगद को कह देते हैं कि तुम्हे बहुत समझाकर क्या कहना ! मै जानता हू कि तुम बडे चतुर हो, इसलिए इस प्रकार का प्रयास करना कि मेरा कार्य सफल हो जाय और शत्रु का भी हित हो । शत्रु से ऐसी बात करना जिससे इस उद्देश्य में हमे सफलता मिले । अपने विशेष दूत और प्रतिनिधि को वह अपनी सारी शक्ति दे देते है जिससे उसे आत्म-विश्वास हो जाय और पूरे साहस के साथ वह शत्रु के साथ बातचीत कर सके ।

सेवक के गुण

हनुमान सीता की खोज करके उनका समाचार लाने के लिए चुने गए। इस कार्य के लिए उनमे क्षमता थी, बल, बुद्धि और विवेक था, यह पहले ही कहा जा चुका है। इस क्षमता का उपयोग वह कैसे करते है, यही यहा समझाने की बात है।

किसी कार्य को करने के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण है उस व्यक्ति द्वारा उस कार्य को हृदय से स्वीकार करना। जामवत ने हनुमान को चुना था। और उन्हे प्रोत्साहन देकर और उनकी आंतरिक शक्ति को जगा कर उन्हे एक निश्चित कार्यक्रम दिया था :

एतना करहु तात तुम्ह जाई। सीतहि देखि कहहु सुधि आई॥

हनुमान ने इस आदेश को उत्साहपूर्वक स्वीकार किया। इस नये कर्तव्य-पथ पर चलते हुए उन्होने उस सभा के सदस्यो को कुछ समय तक प्रतीक्षा करने की अवधि दी। उनके मन में उल्लास था और विश्वास था कि वे इस दिये हुए कार्य मे पूर्णतया सफल होगे :

जामवंत के वचन सुहाए। सुनि हनुमत हृदय अति भाए॥
तव लगि मोहि परिखेहु तुम्ह भाई। सहि दुख कंद मूल फल खाई॥
जब लगि आवौं सीतहि देखी। होइहि काजु मोहि हरष विसेषी॥

किसी भी कार्यकर्ता के मन मे यदि कार्य पर चलते समय यह सदेह हो जाय कि वह कार्य हो सकेगा या नही, तो उसमे पूरी तरह मन लगाने की उसकी शक्ति आधी हो जाती है। यहा हनुमान के हृदय में पूर्ण विश्वास है कि उन्हे सफलता मिलेगी। उनके हृदय से प्रसन्नता के रूप मे विश्वास की यह धारा फूटी पड रही है।

सुग्रीव के अगणित सेनानियो मे केवल हनुमान चुने गए थे, पर

उन्हे इसका अभिमान नही था। उनकी मर्यादा तथा नम्रता लोगो की सद्भावना को स्वय जीत लेती है और सवकी सद्भावना होने पर कार्य मे आनेवाली वाधाएँ स्वय समाप्त हो जाती हैं, क्योकि ऐसे व्यक्ति अपने समाज के प्रतिनिधि वन जाते है। उनकी शक्ति केवल अपनी मानसिक या शारीरिक शक्ति तक सीमित नही रह आती, बल्कि सारे समाज की सगठित शक्ति का रूप ले लेती है। इसलिए :

यह कहि नाइ सवन्हि कहुँ माथा। चलेउ हरषि हियँ धरि रघुनाथा॥

हनुमान के हृदय मे लोगो के सद्भाव के अतिरिक्त अपने सेना-नायक और स्वामी रामचद्र की शक्ति में भी विश्वास है। वह हृदय मे साहस और स्वामी या भगवान् की शक्ति मे विश्वास लेकर चलते हैं।

मार्ग मे एक सुदर प्रसग आता है। मैनाक ने हनुमान को रामचद्र का दूत समझकर यह प्रयास किया कि वह रुककर विश्राम कर लें। स्वयसेवको के मार्ग मे विरोध करनेवाले इतने बाधक नही होते, जितने प्राय सद्भावनापूर्वक विश्राम की व्यवस्था करनेवाले। विरोधो का सामना करने के लिए तो स्वयसेवक की सारी शक्ति उमड आती है, पर सद्भावना-पूर्ण सहायको के स्नेह मे शिथिल होकर वह अपना कर्त्तव्य भूल सकता है। मैनाक के मन मे कोई दुर्भाव नही है, परन्तु इससे हनुमान के लक्ष्य तक पहुचने मे वाधा पडती थी। पर हनुमान ने इसका कोई उद्दण्डतापूर्ण जवाब नही दिया, क्योकि वह अशिष्टता होती। उन्होने आदरपूर्वक मैनाक को प्रणाम किया और कहा .

हनूमान तेहि परसि करि पुनि तेहि कीन्ह प्रनाम।
राम काजु कीन्हें विना मोहि कहा बिश्राम॥

इसके बाद हनुमान आगे वढते है। देवता उनकी शक्ति और वुद्धि की परीक्षा करना चाहते हैं। स्नेह और सद्भाव की मोहक वाधा से तो हनुमान वच गए थे, अव यह देखना था कि वह किसी विरोधपूर्ण बाधा मे उलझ तो नही जाते, इसलिए सुरसा को भेजा जाता है। सुरसा शक्तिशालिनी है, कुटिल है, भयकर है। वह हनुमान को 'चुनौती देकर

कहती है कि देवताओं ने तुम्हे मेरे आहार के लिए भेजा है। हनुमान इस दर्पोक्ति को सुनकर सरल और सीधे शब्दो मे कहते है :

राम काजु करि फिरि मैं आवौं। सीता कइ सुधि प्रभुहि सुनावौं ॥
तब तव बदन पैठिहउँ आई। सत्य कहउँ मोहि जान दे माई ॥

हनुमान का यह व्यवहार वहुत ही नीतिपूर्ण है। वह सुरसा से प्रतियोगिता मे उलझकर समय नष्ट नही करना चाहते थे। पर सुरसा तो वाधा डालने का निश्चय करके आई थी, इसलिए वह किसी प्रकार हनुमान को जाने देने के लिए तैयार नही थी, और विवाद मे पडने के अतिरिक्त हनुमान के सामने कोई चारा नही रह गया था। इसलिए हनुमान ने चुनौती देते हुए कहा ·

कवनहुँ जतन देह नहिं जाना। ग्रससि न मोहि कहेउँ हनुमाना ॥

सुरसा के लिए यह मुकाबला साधारण नही साबित हुआ। दोनों मे अहकार बढ़ाने की प्रतियोगिता चल पडी और काव्य-कल्पना के अनुसार जव सुरसा ने अपना मुख एक योजन फैलाया, तो हनुमान ने अपना शरीर दुगुना बढाया। वात बढती गई; सुरसा हनुमान से दुगुनी और हनुमान सुरसा से दुगुना भयंकर रूप लेकर एक-दूसरे को ललकारते रहे, अंत में सुरसा का अहंकार लगभग अपनी सीमा को पार करने लगा। सुरसा से बरावर विवाद में पडे रहना हनुमान के लिए उचित नही था। किसीके व्यवहार से उत्तेजित होकर अपने लक्ष्य को भूलना उन्होने ठीक नही समझा, इसलिए अत्यत लघु रूप धारण करनेवाली विनम्रता हनुमान के लिए उचित ही थी। विवाद का अत तो करना ही था, क्योंकि वरावर विवाद वनाये रखने से किसीको वास्तविक विजय नहीं मिलती। हर एक सेवा-कार्य मे कभी-कभी विवाद की इच्छा रखनेवाले लोग मिल ही जाते हैं। उनके साथ भी नम्रता का व्यवहार ही जादू का काम करता है। जव हनुमान ने छोटे-से-छोटा रूप धारण कर लिया तो सुरसा का सारा अभिमान ढह गया। क्रोध का भयकर आवेग अचानक विनयशीलता के समान पिघल जाता है :

सत जोजन तेहिं आनन कीन्हा। अति लघु रूप पवन सुत लीन्हा॥
वदन पइठि पुनि वाहर आवा। मागा विदा ताहि सिरु नावा॥

अव हनुमान ने सिर झुकाकर सच्ची सद्भावना से सुरसा से विदा मागी कि वह उन्हे राम-काज पर जाने दे। सुरसा का भी उद्देश्य पूरा हुआ। परीक्षा मे हनुमान खरे उतरे और इसलिए सुरसा ने कहा :

मोहि सुरन्ह जेहि लागि पठावा। वुधि वल मरमु तोर मै पावा॥
राम काजु सवु करिहहु तुम्ह वल वुद्धि निधान।
आसिष देइ गई सो हरषि चलेउ हनुमान॥

इसके वाद हनुमान आगे वढे कि दूर से उनकी छाया-रूपी कीर्ति को पकडकर उन्हे पुन कर्तव्य से विचलित करने का प्रयास किया गया। हनुमान ने उस राक्षसी का कपट तुरत पहचान लिया, जो समुद्र मे रहती थी। वह छल करके आकाश मे उडनेवाले पक्षियो को पकडती थी। जो भी जीव-जतु आकाश-मार्ग मे उडते थे, उनकी परछाई को देखकर उनकी छाया पकड लेती थी और वे उड नही पाते थे। हनुमान ने उसका छल समझ लिया और उसे मार डाला। इस पावन यात्रा के प्रसग मे हनुमान को मैनाक से नम्रता द्वारा, सुरसा से विवाद द्वारा और आकाशचारी राक्षसी से शक्ति द्वारा निवटना पडा। हनुमान अव लका पहुच गए। उन्होने वडी कुशलता से सीताजी की खोज की। राम की मुद्रिका सीताजी को दी और उनकी खवर लेकर वापस आये :

नाघि सिंधु एहि पारहि आवा। सवद किलिकिला कपिन्ह सुनावा॥
हरषे सव विलोकि हनुमाना। नूतन जन्म कपिन्ह तव जाना॥
मुख प्रसन्न तन तेज विराजा। कीन्हेसि रामचंद्र कर काजा॥

हनुमान का यह कार्य, जो उन्हे सुग्रीव ने दिया था और जिसके सवध मे उनको जामवत ने सजग किया था, पूरा हुआ। इस प्रसग से स्वयसेवको की तत्परता, उनकी शक्ति, उनकी वुद्धि, उनकी कर्तव्य-भावना और मार्ग मे आनेवाली वाधाओ से कुशलता और वलपूर्वक वच निकलने की क्षमता का प्रमाण मिलता है।

: ११ :

सहयोग से सेतु-बंध

हनुमान ने सीताजी की खोज करने के लिए एक पराक्रमपूर्ण प्रयास किया। फिर भी यह प्रयास एक व्यक्ति के बुद्धि, विवेक और बल पर आधारित था। समाज में बहुत-से कार्यक्रम आते है जो एक व्यक्ति की शारीरिक या मानसिक शक्ति के परे होते हैं। इसके अतिरिक्त समाज को सुसंगठित रखने के लिए यह भी आवश्यक होता है कि उसमे रहने-वाले सभी लोग समय-समय पर सामाजिक हित के कार्य में भाग लें। इसलिए हनुमान के यह पूछने पर कि 'मै सहायको-सहित रावण को मार-कर त्रिकूट पर्वत उखाड़कर लाने की क्षमता रखता हूं, परंतु किस हद तक अपनी इस शक्ति का उपयोग करूं ?' जामवंत ने कहा था कि केवल सीताजी की खोज कर वह उनके समाचार लायें। उसके बाद स्वयं रामचंद्र सेना के साथ लंका जाकर रावण को मारकर सीताजी को लायेंगे।

हनुमान लंका जाकर सीता की खबर ले आये। अब रामचंद्र को अपने धर्म का और सैनिकों को अपने धर्म का पालन करना था। उन्हें लंका पार जाना था। समुद्र के तट पर जाकर उन्होने उस पार जाने का साधन प्राप्त करने का प्रयास किया। वैसे तो ईश्वर की एक विशेष शक्ति के रूप में वह समुद्र को सुखा सकते थे, लेकिन यह मर्यादा-पुरुषो-त्तम राम के लिए शायद उचित न होता। व्रज को भयकर बाढ़ से बचानेवाले श्रीकृष्ण के गोवर्धन-धारण के प्रसंग में और रामचंद्र की सेना द्वारा सेतुबंध के प्रसंग मे, युगो तक समाज में रहनेवालो के लिए सामूहिक प्रयत्न का जो आदर्श स्थापित हुआ है, वह केवल हनुमान या राम के पराक्रम से या केवल कृष्ण के चमत्कार से पूर्ण नही होता।

ग्वाल-बालो ने गोवर्धन मे अपनी लकुटियों की टेक लगा दी थी। सेतुबंध-प्रसग मे तो यह सामूहिक प्रयत्न और भी साफ-साफ प्रकट हो जाता है।

कहते है, स्वय समुद्र ने रामचन्द्र को सेतुबंध की विधि बताई थी, पर उसका प्राविधिक निर्माण नल और नील के हाथो हुआ था। वे ऋषि के आशीर्वाद और भगवत्कृपा से पत्थर को पानी मे तैरा सकते थे। इसे चमत्कार कहिये या प्राविधिक कला-कौशल। समुद्र ने बताया :

नाथ नील नल कपि द्वौ भाई। लरिकाई रिषि आसिष पाई॥
तिन्ह कें परस किएँ गिरि भारे। तरिहहिं जलधि प्रताप तुम्हारे॥
मैं पुनि उर धरि प्रभु प्रभुताई। करिहउँ बल अनुमान सहाई॥
एहि बिधि नाथ पयोधि बँधाइअ। जेहिं यह सुजसु लोक तिहुँ गाइअ॥

जामवत ने फिर अपने मत्रिपद के अनुसार सेतु-निर्माण का नेतृत्व किया और इस बार नल-नील मे आत्म-विश्वास की चेतना भर दी :

जामवत बोले दोउ भाई। नल नीलहि सब कथा सुनाई॥
राम प्रताप सुमिरि मन माहीं। करहु सेतु प्रयास कछु नाहीं॥

जामवत ने ऋषि के वरदान की कथा सुनाकर उन्हे रामचद्र के प्रताप का स्मरण दिलाया और कहा, "पुल निर्माण करो। इसमे कोई अधिक परिश्रम की आवश्यकता नही पडेगी।"

किसी भी कार्य के आरभ मे कार्यकर्ताओ को प्रोत्साहित करते हुए जब यह कहा जाय कि उस कार्य मे कोई विशेष कठिनाई नही होगी, कोई अधिक परिश्रम नही पडेगा तो कार्यकर्ता की शक्ति दुगुनी बढ जाती है। वे ऐसे उल्लास से कार्य करते है कि वह उमग ही सफलता बन जाती है। यहा 'हृदय मे भगवान् का स्मरण और भुजाओ द्वारा कर्म के प्रयास' का सिद्धात फिर दुहराया गया है। अब जामवत ने सैनिको को बुलाया और सबसे कुछ विनती की। सैनिको से प्रार्थना करना भी अद्भुत रूप से उपयोगी सिद्ध होता है :

बोलि लिए कपि निकर बहोरी। सकल सुनहु बिनती कछु मोरी॥
राम चरन पकज उर धरहू। कौतुक एक भालु कपि करहू॥

धावहु मर्कट विकट बरूथा । आनहु बिटप गिरिन्ह के जूथा ।।

यहा भी रामचंद्र के चरणों को हृदय मे धारण करके एक कौतुक करने के लिए कहा गया। वडे-वड़े पेडों को उखाड़ लेना, पत्थरो को उखाडकर काट-छाट कर लाना और नल-नील के सामने रखना कोई कठिन कार्य नही वताया गया, वल्कि एक खेल या लीला के रूप में उत्साही सैनिकों के सामने रखा गया। इसका प्रभाव यह हुआ :

सुनि कपि भालु चले करि हूहा । जय रघुबीर प्रताप समूहा ।।
अति उतग गिरि पादप लीलहिं लेहिं उठाइ ।
आनि देहिं नल नीलहि रचहिं ते सेतु बनाइ ।।

उत्साह के इस वातावरण मे विशाल पर्वतो को उखाड़कर वे लाकर देते थे। उसे नल-नील हल्की गेद की तरह लेते थे और यथास्थान रख देते थे। यहा विवशता से काम करनेवाले उत्पीडित मजदूर काम नही कर रहे थे ; ये लोग भी राम के सैनिक थे और प्रजातात्रिक नेतृत्व के वातावरण मे साथ मिलकर एक सामूहिक निर्माण का कार्य चला रहे थे। रामचंद्रजी ने इस निर्माण को एक आध्यात्मिक महत्त्व दिया। यहा पर शिव के एक मंदिर की स्थापना करके इस महान् सेतु को शिव के चरणो मे अर्पित किया और वैष्णवो और शैवो के बीच विरोध की लवी-चौडी खाई के ऊपर एक सहयोग, सद्भाव और भक्ति का सेतु बना दिया। यहीपर उन्होने कहा :

सिवद्रोही मम भगत कहावा । सो नर सपनेहुँ मोहि न पावा ।।
संकर विमुख भगति चह मोरी । सो नारकी मूढ़ मति थोरी ।।
संकर प्रिय मम द्रोही सिव द्रोही मम दास ।
ते नर करहिं कलप भरि घोर नरक महुँ बास ।।

इस सेतु को शिल्पी नल और नील ने वाधा। पर यह गौरव न समुद्र का था, न जल पर तैरनेवाले पत्थरो का, न केवल सैनिको के पराक्रम का। यह गौरव तो इस शक्ति को समन्वित और संगठित करनेवाले रामचंद्र के नेतृत्व की कृपा के फलस्वरूप मिला था।

: १२ :

सामाजिक व्यवहार के माध्यम

संवाद

जब दो व्यक्ति आपस मे मिलते हैं तो भाषा के द्वारा, मूक सकेतो या दूसरे प्रतीको से वे अपने विचारो को प्रकट करते हैं। विचारो के आदान-प्रदान मे मानव की सबसे बडी विशेषता है उसकी भाषा-प्रयोग की क्षमता। धार्मिक दृष्टि से लिखित यह श्लोक

आहारनिद्राभयमैथुन च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥

मानव-समाज की विशेषता को ही बताता है, पर यह विशेषता वैज्ञानिक दृष्टि से भाषा के क्षेत्र मे ही सिद्ध होती है। मानव-धर्म का आधार भाषा का प्रयोग और सस्कृति का सवहन ही है।

रामचरितमानस की समस्त कथा सवादो पर आधारित है। गोस्वामीजी से पहले वाल्मीकि, भवभूति, कालिदास आदि महाकवियो ने अपने-अपने ढग से राम-कथा प्रस्तुत की थी। पर गोस्वामीजी ने उसका आधार केवल तत्त्वज्ञानियो और भक्तो के सवाद को ही माना। इस कथा को याज्ञवल्क्य ने भरद्वाज को सुनाया, भगवान् शकर ने इसे पार्वती के सम्मुख रखा और इसके द्वारा कागभुशुडि ने गरुड का मोह-भग किया। देवताओ, ऋषियो और पक्षियो के स्तर पर वर्णित इस कथा मे मानव-समाज का शील-शिष्टाचार ही पूर्ण रूप से व्यक्त किया गया है। याज्ञवल्क्य और भरद्वाज मुनि का सवाद देखिये :

जागवलिक मुनि परम बिवेकी। भरद्वाज राखे पद टेकी॥
सादर चरन सरोज पखारे। अति पुनीत आसन बैठारे॥

करि पूजा मुनि सुजसु बखानी । बोले अति पुनीत मृदु बानी ।।
कहत सो मोहिं लागत भय लाजा । जौंन कहउँ बड़ होइ अकाजा ।।
संत कहहिं अस नीति प्रभु श्रुति पुरान मुनि गाव ।
होइ न बिमल बिबेक उर गुर सन किएँ दुराव ।।
अस बिचारि प्रगटउँ निज मोहू । हरहु नाथ करि जन पर छोहू ।।
रामु कवन प्रभु पूछउँ तोही । कहिअ बुझाइ कृपानिधि मोही ।।

भरद्वाज स्वय साधारण व्यक्ति न थे । मननशील मुनि थे, ज्ञानी थ, संत थे। पर ज्ञान प्राप्त करने की परपरा मे गुरु का, ज्ञान देनेवाले का, कितना और कैसा आदर होना चाहिए, यह जानते थे और इस ज्ञान को व्यवहार मे लाते थे । उन्होंने याज्ञवल्क्य ऋषि को बड़े आग्रह से रोका । आदरपूर्वक उनके चरण-कमलो को धोकर उनकी श्राति मिटाकर, उन्हे कोमल और पावन आसन पर बैठाया, उनकी पूजा की, उनके सुदर यश का वर्णन किया और फिर कोमल शब्दो में पवित्र वाणी बोले । महर्षि को नाथ-रूप से संबोधित किया । लज्जा और भय के होते हुए भी ज्ञान की लालसा से अपने मन का सशय उनके सामने रक्खा । उनकी कृपा की याचना की ।

याज्ञवल्क्य ने उनके मन का भाव समझा, उन्हे स्नेह दिया, गौरव दिया और कहा :

जागबलिक बोले मुसुकाई । तुम्हहि बिदित रघुपति प्रभुताई ।।
रामभगत तुम्ह मन क्रम बानी । चतुराई तुम्हारि मैं जानी ।।
चाहहु सुनै राम गुन गूढ़ा । कीन्हेहु प्रश्न मनहुँ अति मूढ़ा ।।
तात सुनहु सादर मनु लाई । कहउँ राम कै कथा सुहाई ।।

उन्होने निर्देश दिया कि यदि स्वय सबकुछ जानते हुए भी भरद्वाज मुनि फिर राम-कथा सुनना चाहते हे, तो सादर मन लगाकर सुने और राम की सुशोभन कथा का रस ले ।

रामचरितमानस मे जहां कही भी दो व्यक्ति बोलते हैं, इसी प्रकार परस्पर आदर, प्रेम, उत्सुकता और श्रद्धा-विनत होकर बोलते हैं । वह

समाज की परपराओ और मर्यादाओ का पूरा-पूरा निर्वाह करते हैं।

भगवान् राम सती से वन मे मिलते है। सती सीता का रूप धारण करके राम की परीक्षा लेना चाहती है। राम कहते हैं :

निज माया बलु हृदयँ बखानी। बोले बिहसि राम मृदु बानी ॥
जोरि पानि प्रभु कीन्ह प्रनामू। पिता समेत लीन्ह निज नामू ॥
कहेउ बहोरि कहाँ बृषकेतू। बिपिन अकेलि फिरहु केहि हेतू ॥

हाथ जोडकर प्रणाम करना, नम्रतापूर्वक अपना पूरा परिचय देना और फिर अपना सरल प्रश्न प्रस्तुत करना, मानस के पात्रो का सामान्य शिष्टाचार है।

शकर पार्वती से राम-कथा के सबध मे उनकी जिज्ञासा का समर्थन करते है और उसका एक पारमार्थिक उद्देश्य बताते है

करि प्रनामु रामहि त्रिपुरारी। हरसि सुधा सम गिरा उचारी ॥
धन्य धन्य गिरिराज कुमारी। तुम्ह समान नहिं कोउ उपकारी ॥
पूँछेहु रघुपति कथा प्रसंगा। सकल लोक जगपावनि गंगा ॥
तुम्ह रघुपति चरनन अनुरागी। कीन्हेसि प्रश्न जगत हित लागी ॥

प्रश्नकर्ता के प्रश्न की प्रशसा से उसके सुनने की प्रेरणा प्रबल हो उठती है। यह नीति मानस मे सहज मर्यादा के रूप मे व्यक्त हुई है। प्रसन्न होकर अमृतवाणी बोलना, प्रश्नकर्ता को धन्यवाद देना और उसके प्रश्न को पारमार्थिक महत्त्व देना संवाद-कला का प्राण है। मानस मे नारी के प्रति तिरस्कार की भावना का आरोप विडबना-मात्र है। यह ऊपर के दो सवादो से व्यक्त हो जाता है, जिसमे सती और पार्वती को सादर सबोधित किया गया है।

अब एक उदाहरण देव और ऋषि या मानव और ऋषि के परस्पर सवाद का दिया जाता है.

तब कर कमल जोरि रघुराई। बोले बचन श्रवन सुखदाई ॥
देखि पाँय मुनिराय तुम्हारे। भये सुकृत सब संफल हमारे ॥
अब जहँ राउर आयसु होई। मुनि उद्वेगु न पावै कोई ॥

अस जिय जानि कहिय सोइ ठाऊँ। सिय सौमित्र सहित जहँ आऊँ ॥

रामचद्र एक राजकुमार के रूप मे व्यवहार कर रहे हैं, पर उनका देवत्व वाल्मीकि से छिपा नही है। वह अपने निवास के लिए ऐसा स्थान चाहते है जहां उनके जाने से किसी मुनि या तपस्वी को कष्ट न हो; पर महर्षि वाल्मीकि :

सहज सरल सुनि रघुबर बानी। बिहसि बचन बोले मुनि ग्यानी ॥
कस न कहहु अस रघुकुल केतू। तुम्ह पालक सतत श्रुति सेतू ॥

श्रुति-सेतु का पालन या सामाजिक मर्यादा की प्रतिष्ठा व्यवस्थित समाज में सामाजिक नियंत्रण का सबसे सबल और सफल अस्त्र है। भगवान् राम सत्-चित-आनंदरूप है, फिर भी उनका व्यवहार सरल व्यक्ति-जैसा है। उन्होने जो स्वरूप धारण किया है उसीके अनुकूल वह आचरण कर रहे है और इसलिए वाल्मीकि के यह कहने पर कि :

पूछेहु मोहि कि रहहु कहँ मैं पूछत सकुचाउँ।
जहँ न होउ तहँ देउ कहि तुम्हहि देखावउँ ठाउँ ॥

सुनि मुनि बचन प्रेम रस साने। बिहसि राम मन महँ मुसकाने ॥

राम को सकोच होता है, अपनी द्विविधापूर्ण (भगवान् और मनुष्य की) स्थिति पर। परन्तु उससे उनकी वाणी की सरलता और सहजता में अंतर नही आता।

पक्षिराज-कागभुशुडि-सवाद का एक और प्रसग देखिये :

गरुड को अपने बल का अभिमान हुआ। वह अपने गौरव और राम की असमर्थता की कथा लेकर ब्रह्मा के पास गये। उन्होने उन्हे शकर के पास भेज दिया। ज्ञान कही से भी प्राप्त हो सकता है; ऐसे चरित्रवान् व्यक्ति से भी व्यावहारिक शिक्षा ली जा सकती है जिसमे ज्ञान, भक्ति और कर्म का उचित समन्वय हो, तथा जो मोह-मुक्त हो। कागभुशुडि पक्षियो मे निम्न वर्ग या वर्ण के होते हुए भी ऐसे ही महात्मा हैं, इसलिए :

गयउ गरुड़ जहँ बसइ भुसुंडा। मति अकुंठ हरि भगति अखंडा ॥

कागभुशुंडि ने भी उनका उचित स्वागत-सत्कार किया :

आवत देखि सकल खगराजा। हरसेउ बायस सहित समाजा ॥
अति आदर खगपति कर कीन्हा। स्वागत पूछि सुआसन दीन्हा ॥
करि पूजा समेत अनुरागा। मधुर बचन बोलेउ तब कागा ॥
नाथ कृतारथ भयउँ मैं तव दरसन खगराज।
आयसु देहु सो करौं अब प्रभु आयहु केहि काज ॥

कागभुशुडि ने अपने ज्ञान के अभिमान मे न आकर पक्षिराज का उचित आदर किया, मधुर शब्दों मे उनकी आज्ञा की प्रतीक्षा की। पक्षिराज गरुड ने भी अपने पद का अभिमान छोडकर कागभुशुडि से ज्ञान की याचना की, भक्तिपूर्ण अभ्यर्थना की और आने का प्रयोजन बताया':

अब श्री रामकथा अति पावनि। सदा सुखद दुख पुंज नसावनि ॥
सादर तात सुनावहु मोही। बार बार बिनवउँ प्रभु तोही ॥
सुनत गरुड़ कै गिरा बिनीता। सरल सुप्रेम सुखद सुपुनीता ॥
भयउ तासु मन परम उछाहा। लाभ कहै रघुपति गुन गाहा ॥

गरुड की विनम्रता, श्रद्धा और जिज्ञासा से कागभुशुडि का हृदय उत्साह से उमड पडा और उन्होने सरल, प्रेममय और पवित्र शब्दो मे भगवान् राम के गुणो का वर्णन किया।

प्रत्येक सामाजिक, आधिभौतिक या आधिदैविक स्तर पर परस्पर सवाद मे सरलता, मधुरता, शिष्टाचार और भक्ति-भावना का जैसा विशद विवरण रामचरितमानस मे मिलता है, वैसा विश्व-साहित्य के किसी भी ग्रथ मे शायद ही मिले।

सत्संग

ऊपर के प्रसग में वर्णित सवादो की उपयोगिता की भी एक सीमा है। सज्जनो अर्थात् अच्छे आचरण और शीलवाले व्यक्तियो के ही समुदाय मे सवाद मानसिक या आध्यात्मिक रूप से लाभकर सिद्ध होते हैं, इसीलिए गोस्वामीजी ने मानस के आरभ मे साधु-सतो की वदना की है और उनके सत्सग की त्रिवेणी के स्नान से तुलना करते हुए उसमे कौवे

को कोयल और बगुले को हस बना देने की शक्ति का आरोप किया है। इसपर कोई सशय न करे या इस कथन को कोई काव्यात्मक अति-शयोक्ति न माने, इसलिए उन्होने कहा है कि सत्संग की महिमा किसीसे छिपी नही है। सत्सग के संबंध में अपने असीम उत्साह के कारण उन्होने यहा तक कह दिया है :

मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहि जतन जहाँ जेहि पाई॥
सो जानब सत्संग प्रभाऊ। लोकहुँ बेद न आन उपाऊ॥

सत्सग वही है जिसमे सदस्य सदाचारी हों, चर्चा का विषय पवित्र हो और धर्म या कर्तव्य के अनुकूल हो। कुसग वह है, जिसमे चर्चा में भाग लेनेवाले लोग कुटिल हो, जिसमें लोगों का लक्ष्य बुरा हो या उसे प्राप्त करने की विधि बुरी हो। ऐसी स्थिति मे सत्सग की महान् उप-योगिता की कल्पना प्रत्येक व्यक्ति कर सकता है; विशेषकर उस युग मे जब औपचारिक शिक्षा के दृश्य-श्रव्य साधन विकसित नही हुए थे और सुने हुए या स्मरण किये हुए शब्दो पर सारा ज्ञान आधारित था। श्रुति या स्मृति के उस युग मे सामाजिक मर्यादाओ एव मान्यताओ के सवहन करने का एकमात्र माध्यम सत्संग था। इसीलिए गोस्वामीजी ने सत्सग के महत्त्व की अधिक विस्तृत रूप से चर्चा की है। उन्होने कहा है :

सतसगति मुद मगल मूला। सोइ फल सिधि सब साधन फूला॥
सठ सुधरहिं सतसगति पाई। पारस परसि कुधातु सुहाई॥

किसी समुदाय के प्रत्येक व्यक्ति का सत या साधु होना आवश्यक नही है। यदि कोई साधारण आचरणवाला व्यक्ति भी स्वेच्छा और हृदय की शुद्धता के साथ अपनेको सत्सग में सम्मिलित करता है, तो उसकी भावनाएँ उसी प्रकार शुद्ध हो सकती हैं जैसे काव्योक्ति के अनुसार पारस पत्थर को छूने से लोहा सोना हो जाता है। इसके अतिरिक्त यदि कोई सज्जन कुसग मे पड़ जाता है तो वह भी अपने शील-गुण का इस प्रकार निर्वाह करता है जैसे मणि सर्प के शरीर मे रहकर भी प्रकाश देती है। गोस्वामीजी ने आगे लिखा है :

हानि कुसग सुसगति लाहू। लोकहुँ वेद विदित सब काहू॥
गगन चढ़इ रज पवन प्रसंगा। कीचहि मिलइ नीच जल सगा॥
साधु असाधु सदन सुक सारीं। सुमिरहिं राम देहिं गनि गारीं॥
धूम कुसगति कारिख होई। लिखिअ पुरान मंजु मसि सोई॥
सोइ जल अनल अनिल संघाता। होइ जलद जग जीवन दाता॥

यह कथन अधिक व्यावहारिक है, क्योकि इसमे सर्प के शरीर मे रहनेवाली मणि के समान अपवाद-रूप आचरण का सहारा नही लिया गया है, बल्कि समुदाय के अच्छे या बुरे होने से उसके सदस्यो पर उसी प्रकार का प्रभाव पडने का भाव स्वीकार किया गया है। धूल, धुआ और तोता-मैना जैसे पक्षियो के व्यवहार मे भी सगति का कितना असर पडता है, यह बात काव्यात्मक ढग से गोस्वामीजी ने व्यक्त की है। फिर भी इस कथन से उन्होने इतनी कट्टरता नही दिखलाई है। वस्तुतः तरह-तरह के काव्यात्मक उदाहरणो से उन्होने यह बात प्रमाणित करने की कोशिश की है कि इस ससार मे हर प्रकार के तत्त्व—ग्रह, औषधि, जल, वायु, वस्त्र आदि—अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियो मे अच्छे या बुरे बन जाते है। कोई वस्तु मूलत अच्छी या बुरी नही, उसकी अच्छाई या बुराई सयोग-वश प्राप्त अच्छे या बुरे सग पर ही अधिक निर्भर होती हैं। इस उदार भावना को अपनी वदना मे व्यक्त करते हुए गोस्वामीजी ने लिखा है

जड चेतन जग जीव जत सकल राममय जानि।
बदउँ सब के पद कमल सदा जोरि जुग पानि॥
देव दनुज नर नाग खग प्रेत पितर गंधर्व।
बंदउँ किनर निसिचर कृपा करहु अब सर्व॥

इसे जहा आध्यात्मिक समता या स्थितप्रज्ञता का परिणाम समझ सकते हैं, वही यह व्यावहारिक नीति की बात भी है। इसीलिए तुलसी-दास ने तथाकथित दुष्टो की भी वदना की है और कहा है .

बहुरि बंदि खल मन सति भाएँ। जे बिनु काज दाहिने बाएँ॥
बंदउँ संत असज्जन चरना। दुखप्रद उभय बीच कछु बरना॥

मिलत एक दारुन दुख देही। बिछुरत एक प्रान हरि लेही ॥

उदारता के साथ-साथ इसमें एक तीखा व्यंग भी है, जिसमें ऐसे व्यक्तियो के उस स्वभाव की भर्त्सना की गई है, जो अनायास दूसरो के अनिष्ट के पथ पर जाते है या जिनकी कुख्याति ऐसी हो जाती है कि उनके मिलते ही लोगो को घबराहट या चिंता हो जाती है।

सत्सग का व्यावहारिक वर्णन अयोध्याकाड में वाल्मीकि और राम के संवाद, उत्तरकांड में भगवान् रामचंद्र के स्वयं के उपदेश और कागभुशुडि और गरुड़ की ज्ञान-चर्चा मे मिलता है। भगवान् राम द्वारा शबरी के सम्मुख नवधा भक्ति का वर्णन या अत्रि के आश्रम में अनसूया द्वारा नारी के कर्तव्य का विवेचन इस सत्सग के पावन प्रसग हैं। उनका विस्तृत वर्णन हम विषय-विशेष के साथ करेंगे। यहा केवल इतना कह देना पर्याप्त होगा कि रामचरितमानस मे सत्सग भक्ति और ज्ञान के निरूपण मे हुआ है, जीवन की भौतिक समस्याओ के समाधान मे नही। उस समय देश की आर्थिक स्थिति इतनी समस्यात्मक नही थी, इसलिए आर्थिक या भौतिक समस्याओ का प्रश्न ही नही उठता था।

रामचरितमानस धार्मिक या सांस्कृतिक पुन.सगठन के लिए लिखा गया था। धर्म उसका आधार था। आज के युग मे देश की आर्थिक, सामाजिक व नैतिक समस्याओ को हल करने का लक्ष्य लेकर अच्छे आचरण और विचारवाले लोगो का, जो देश को वर्तमान संकटों से मुक्त करना चाहते है, सत्सग प्रत्येक जनपद, ग्राम या पुर मे हो सकता है। सत्सग की विधि नियमपूर्ण होनी चाहिए। उसका लक्ष्य कल्याण होना चाहिए। उसके भीतर परस्पर आस्था और विश्वास की संचालन-शक्ति होनी चाहिए। सत्सग के द्वारा ही लोग जीवन की नई विधियो को अपनाने के लिए सकल्प करेंगे और उनके आतरिक सकल्पो या प्रयासो से ही सच्ची सफलता मिल सकेगी।

विवाद

सामाजिक सपर्क मे सदैव मधुरता या विचार-समता का ही अनुभव

नही होता, कभी-कभी सघर्ष और विरोध की परिस्थितिया भी आती हैं। ऐसी परिस्थिति मे सवाद विवाद का रूप धारण कर लेता है। विवाद मे एक-दूसरे की भावनाओ की ओर ध्यान नही दिया जाता। प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यक्तित्व और दृष्टिकोण को बढा-चढाकर वर्णन करता हैं। ऐसे वर्णन मे हृदय की प्रधानता न होकर बुद्धि की प्रधानता होती हैं। प्रत्येक एक-दूसरे को तर्क से जीतने का प्रयास करता है। यह सभी मानते है कि तर्क से कोई व्यक्ति वस्तुत दूसरे को उसी प्रकार प्रभावित नही कर सकता, जैसे युद्ध से कोई देश दूसरे देश को वस्तुत' पराजित नही कर सकता। प्राचीन काल मे तर्क का अधिक प्रभाव था, जैसे आद्य शकराचार्य ने दार्शनिक वाद-विवाद से बौद्ध धर्म को पराजित किया था। पर साधारण सामाजिक जीवन मे तो विवाद के स्थान पर श्रद्धा-भक्ति-पूर्ण सवाद ही अधिक चलते थे। विवाद की सीमाओ को जानते हुए भी अहकार, क्रोध या क्षोभ आदि भावनाओ के वशीभूत होकर लोग विवाद मे पड जाते हैं।

रामचरितमानस मे परशुराम-लक्ष्मण-सवाद और अगद-रावण-सवाद मे विवाद की इसी प्रक्रिया का वर्णन किया गया है। गोस्वामीजी परशुराम के आगमन का वर्णन करते है

गौरि सरीर भूति भल भ्राजा। भाल बिसाल त्रिपुंड बिराजा॥
सीस जटा ससि बदनु सुहावा। रिसवश कछुक अरुन होइ आवा॥
भृकुटीं कुटिल नयन रिस राते। सहजहुँ चितवत मनहुँ रिसाते॥

परशुराम को इस बात का क्रोध है कि किसीने उनके गुरु भगवान् शकर के धनुष को तोड डालने की धृष्टता की है, क्रोध मे शरीर की स्वाभाविक गति-विधि मे बडा अतर आ जाता है। मन मे सघर्ष का सहज भय होता है। विवेक पृष्ठभूमि मे पड जाता है, मस्तिष्क से रक्त की धमनियो मे अधिकाधिक रक्त प्रवाहित होता है, मुखाकृति लाल हो जाती है, शरीर काँपने सा लगता है और व्यक्ति की साधारण शक्ति कुछ क्षण के लिए दिशा-विशेष मे अधिक-से-अधिक केंद्रित हो जाती है।

बाद में भावावेश उतर जाने पर व्यक्ति और भी शिथिलता अनुभव करता है, पर कुछ क्षणों को तो उसकी प्रतिक्रिया काफी असाधारण होती है। इस प्रतिक्रिया के अनुसार परशुराम का मुखारविंद अरुण हो चला है, भौहे फडक रही है, आखें क्रोध से लाल है। साधारण दृष्टि से देखने में भी उनमे क्रोध उमड पड रहा है। वह जनक से राजाओ की भीड का कारण पूछते है और उसका कारण समझकर .

अति रिस बोले बचन कठोरा। कहु जड़ जनक धनुष कै तोरा॥
बेगि देखाऊ मूढ़ न त आजू। उलटउँ महि जहँ लगि तव राजू॥

यहाँ परशुराम के अधरो पर मुस्कान नही, वह सहज और सरल वाणी नही बोलते है। धनुष तोडनेवाले को जड़ और मूढ कहते है और जनक की राज्य-सीमा मे पृथ्वी को उलट-पलट देने की धमकी देते है। क्रोध के इस चित्रण से पहले प्रकरण मे दिये हुए शील-शिष्टाचार का महत्त्व कम नही होता, बल्कि बढ जाता है; विशेषकर जब राम अपने धीर स्वभाव के अनुसार नम्रतापूर्वक कहते है :

नाथ संभुधनु भंजनिहारा। होइहि कोउ एक दास तुम्हारा॥
आयसु काह कहिअ किन मोही। सुनि रिसाइ बोले मुनि कोही॥

पर परशुराम का क्रोध और बढता है, वह और क्रुद्ध होते है :

सुनहु राम जेहिं सिवधनु तोरा। सहसबाहु सम सो रिपु मोरा॥
सो बिलगाउ बिहाइ समाजा। न त मारे जैहैं सब राजा॥

किसी एक राजा की त्रुटि पर सभी राजाओ को मारने की धमकी देना क्रोध से उत्पन्न विवेकशून्यता ही है। इसका विरोध युद्ध की चुनौती से किया जा सकता था। परन्तु वह विवेकपूर्ण न होता, क्योकि युद्ध किसी भी समस्या का समाधान नही करता। इसलिए व्यग्यपूर्ण विवाद से क्रोध को धीरे-धीरे और बढाकर परशुराम की भावनाओ का विवेचन किया जाता है। लक्ष्मण अपनी सहज चपलता से परशुराम को उत्तर देते है :

सुनि मुनि बचन लखन मुसुकाने। बोले परसुधरिहि अपमाने॥
बहु धनुहीं तोरीं लरिकाईं। कबहुँ न असि रिस कीन्ह गुसाईं॥

एहि धनु पर ममता केहि हेतू। सुनि रिसाइ कह भृगकुलकेतू॥

लक्ष्मण मुस्कराकर बोलते हैं, परन्तु उनकी मुस्कान में व्यग्य भरा हुआ है, इसलिए परशुराम का क्रोध और बढ जाता है और वह क्रोधोन्मत्त होकर ललकारने लगते हैं :

रे नृप बालक कालबस बोलत तोहि न सँभार।
धनुही सम तिपुरारि धनु बिदित सकल संसार॥

लक्ष्मण परशुराम के ही स्वभाव के व्यक्ति हैं। धनुष-यज्ञ के प्रकरण के आरभ मे उनका क्रोध भी प्रकट हो चुका था :

माखे लखन कुटिल भइ भौंहें। रदपुट फरकत नैन रिसौहें॥

एक प्रकार के स्वभाववाले व्यक्तियो के दृष्टिकोण में भेद होने पर लबा विवाद छिड ही जाता है, क्योंकि उनमे कोई इतना धीर या शात नही कि दूसरे के तर्क का प्रत्युत्तर न दे। इसलिए लक्ष्मण भी इसका उसी प्रकार का उत्तर देते हैं :

लखन कहा हँसि हमरें जाना। सुनहु देव सब धनुष समाना॥
का छति लाभ जून धनु तोरें। देखा राम नयन के भोरें॥
छुअत टूट रघुपतिहि न दोसू। मुनि बिनु काज करिअ कत रोसू॥

लक्ष्मण परशुराम की धमकी से प्रभावित नही होते और मधुर और तीक्ष्ण व्यग से परशुराम के अहकार पर आघात करते हैं। यह विवाद बढकर युद्ध के रूप मे परिवर्तित हो जाता है पर :

मातु पितहि जनि सोचबस करसि महीस किसोर।
गर्भन्ह के अर्भक दलन परसु मोर अति घोर॥

जब परशुराम का क्रोध कुछ शात होता है तभी लक्ष्मण फिर कुछ उद्धत बात कहते हैं, पर रामचद्र निरतर 'अति बिनीत मृदु सुदर बानी' बोलते हैं और हाथ जोडकर बोलते है। परशुराम इसे अपने क्रोध मे छलपूर्ण समझते हैं और राम को सग्राम के लिए चुनौती देते है। राम की मृदुलता एक अहिंसात्मक सत्याग्रह का रूप लेती है :

राम कहेउ रिस तजिअ मुनीसा। कर कुठारु आगे यह सीसा॥

जहिं रिस जाय करिअ सोइ स्वामी। मोहि जानिअ आपन अनुगामी॥

राम उनसे लक्ष्मण के विवाद के लिए क्षमा मागते है और नम्रता-पूर्वक सघर्ष का कारण परशुराम के ही व्यवहार को वताते हुए कहते हैं :

प्रभुहि सेवकहि समरु कस तजहु बिप्रबर रोसु।
बेषु बिलोके कहेसि कछु बालकहू नहिं दोसु॥
देखि कुठार बान धनु धारी। भै लरिकहि रिस बीरु विचारी॥
नामु जान पै तुम्हहि न चीन्हा। बंस सुभायँ उतरु तेंहि दीन्हा॥
जौं तुम्ह औतेहु मुनि की नाईं। पद रज सिर सिसु धरत गोसाईं॥
छमहु चूक अनजानत केरी। चहिअ विप्र उर कृपा घनेरी॥

क्षमा-प्रार्थना का यह क्रम केवल नीतिमत्ता के कारण नही, विरोधी के क्रोध को क्रमशः कम करने का प्रयास है :

हमहि तुम्हहि सरबरि कस नाथा। कहहु न कहाँ चरन कहँ माथा॥
राम मात्र लघु नाम हमारा। परसु सहित बड़ नाम तोहारा॥
देव एकु गुनु धनुष हमारें। छमहु विप्र अपराध हमारें॥

क्रोधी या अहकारी व्यक्ति को सवसे अधिक निराशा तव होती है जव उसके व्यवहार का प्रत्युत्तर उसी तरह के व्यवहार से नही मिलता। आग पानी से ही शात होती है। क्रोध प्रत्युत्तर से और भडक उठता है। पर एक व्यक्ति कोमल और दूसरा कठोर उत्तर देता है तो क्रोध उतरने मे सहायता मिलती है। फिर भी यह स्मरण रखना चाहिए कि राम की क्षमा-याचना में निर्वलता नही। उनकी विनय मे अभय का पुट है। उनकी वाणी मृदुल होते हुए भी गूढ है। परशुराम का क्रोध तो शात हो जाता है। उनके पराक्रम का युग समाप्त हुआ, वह राम का महत्त्व स्वीकार कर लेते है और विवाद समाप्त हो जाता है।

सतत सवाद और विवाद की इस प्रक्रिया से एक व्यवस्थित सभा-शासन का विकास होता है, उसकी चर्चा हम अगले अध्याय मे करेंगे।

: १३ :

सभा-शास्त्र

सभा-समुदाय

सामाजिक जीवन को व्यवस्थित रूप से विकसित करने के लिए विभिन्न अवस्था, पद और स्वभाववाले लोग एक बड़े या छोटे समुदाय या सभा-मडलियो मे मिलते हैं, चर्चा व विवाद करते हैं और सामाजिक निर्णय लेते है। इन निर्णयो के आधार पर ही सामाजिक नियंत्रण की मान्यताए स्थापित होती है और सामाजिक सगठन दृढ होता है। ऐसे बड़े समुदाय के विचार-विमर्श को सभा या परिषद् कहते हैं। रामचरितमानस मे इसी प्रकार की कई परिषदो का वर्णन हुआ है। एक परिषद् चित्रकूट के प्राकृतिक सुषमा-भरे वातावरण मे बैठती है। यह वैधानिक प्रजातत्र की सभा नही, बल्कि आध्यात्मिक विचार-सभा है। इसमे दोनो पक्ष और विपक्ष के नेता एक दूसरे के प्रतियोगी नही, स्नेही हैं। इसमे अधिकारो को एक-दूसरे से छीनने का प्रयास नही, राज्य-सिहासन-रूपी गेंद को एक-दूसरे के सामने फेक देने का प्रयास है, जिसमे भोग की आसक्ति नही, त्याग का गौरव है। इस विचार-सभा की भौगोलिक स्थिति गोस्वामीजी ने इस प्रकार चित्रित की है :

बन प्रदेश मुनि बास घनेरे। जनु पुर नगर गाउँ गन खेरे ॥
बिपुल विचित्र विहग मृग नाहा। देखि महिप बृष साधु सराहा ॥
बयरु बिहाइ चरहिं एक संगा। जहँ तहँ मनहुँ सेन चतुरंगा ॥
झरना झरहिं मत्त गज गाजहिं। मनहुँ निसान बिबिधि बिधि बाजहिं ॥
चक चकोर चातक सुक पिक गन। कूजत मंजु मराल मुदित मन ॥

प्राकृतिक वातावरण की शाति, उसकी समता और रमणीयता

मडली के सदस्यों के मन मे भी शाति और त्याग की भावना भर देती है।

निषादराज गुह ने ऊचे चढकर भरत को दूर से ही यह सुदर स्थान दिखलाया और उसका आकर्षक वर्णन किया :

नाथ देखिअहिं बिटप बिसाला। पाकरि जबु रसाल तमाला॥
जिन्ह तरुबरन्ह मध्य बटु सोहा। मंजु बिसाल देखि मनु मोहा॥
नील सघन पल्लव फल लाला। अबिरल छाँह सुखद सब काला॥
मानहुँ तिमिर अरुनमय रासी। बिरची बिधि सकेलि सुषमा सी॥
ए तरु सरित समीप गोसाईं। रघुबर परनकुटी जहँ छाईं॥
तुलसी तरुबर बिबिध सुहाए। कहुँ कहुँ सियँ कहुँ लखन लगाए॥
बट छाया बेदिका बनाई। सिय निज पानि सरोज सुहाई॥
जहाँ बेठि मुनिगन सहित नित सिय राम सुजान।
सुनहिं कथा इतिहास सब आगम निगम पुरान॥

इस स्थान पर राम-भरत का मिलन होता है। भरत राम से कुछ कह नही पाते, पर राम भरत के मन की सब समझ जाते है।

रामचद्र सबका स्वागत-सत्कार करते है। प्रवास-श्रम से शात होकर सब लोग फिर एकत्र होते है और भोजनादि से छुट्टी पाकर फिर सभा जुड़ती है, भरत की समस्या पर विचार करने के लिए।

भरत की समस्या है :

केहि विधि होइ राम अभिषेकू। मोहि अवकलत उपाय न एकू॥
अवसि फिरहि गुर आयसु मानी। मुनि पुनि कहब राम रुचि जानी॥
मातु कहेहुँ बहुरहिं रघुराऊ। राम जननि हठ करबि कि काऊ॥
मोहि अनुचर कर केतिक बाता। तेहि महँ कुसमउ बाम बिधाता॥
जौं हठ करउँ त निपट कुकरमू। हरगिरि तें गुरु सेवक धरमू॥
एकउ जुगुति न मन ठहरानी। सोचत भरतहि रैन बिहानी॥

गुरु वशिष्ठ सभा के अध्यक्ष है। पक्ष और विपक्ष के सभी सज्जन सभा मे उपस्थित होते है। सभा में लोग कुछ पहले आते है, कुछ उसके

वाद। वे किस प्रकार अध्यक्ष का अभिवादन करते है, बैठते है, और अध्यक्ष महोदय उनको कैसे सबोधित करते है, यह सब आज के वैधानिक प्रजातत्र के युग मे देखने व समझने योग्य हैं :

गुरु पद कमल प्रनामु करि बैठे आयसु पाइ।
विप्र महाजन सचिव सब जुरे सभासद आइ॥
बोले मुनिवरु समय समाना। सुनहु सभासद भरत सुजाना॥
धरम धुरीन भानुकुल भानू। राजा रामु स्ववस भगवानू॥

गुरु के चरण-कमलो मे प्रणाम करके उनकी आज्ञा पाकर लोग बैठते है। विद्वान्, व्यापारी, मत्री, सभासद् सब लोग उस सभा मे उपस्थित थे। महर्षि वशिष्ठ समय के अनुकूल बोलते है। वह सबसे पहले सभासदो को सबोधित करते है, फिर सज्जन भरत को। उन लोगो के सामने वह राम की धर्मपरायणता, स्ववशता, सत्य-प्रियता, परपरा का पालन और परोपकारिता की प्रशसा करते है। दूसरे पक्ष की आलोचना न करके उसको सम्मान दिया जाता है और दोनो पक्षो मे एक-दूसरे के प्रति सद्भावना विकसित की जाती है। वशिष्ठ राम के जीवन के उद्देश्य पर, माता-पिता के आज्ञा-पालन पर, उनके विवेक पर और उनकी आज्ञा-पालन करने की अभीष्टता पर सुदर और विस्तृत आरंभिक व्याख्यान देते हैं और कहते हैं :

राखें राम रजाइ रुख हम सब कर हित होइ।
समुझि सयाने करहु अब सब मिलि संमत सोइ॥

निर्णय समझदार सदस्यो पर ही छोडा जाता है। अध्यक्ष अपनी व्यवस्था नही देते। इसके साथ ही वह सभा के सामने एक मुख्य समस्या रख देते हैं

सब कहुँ सुखद राम अभिषेकू। मंगल मोद मूल मग एकू॥
केहि बिधि अवध चलहिं रघुराऊ। कहहु समुझि सोइ करिअ उपाऊ॥

समस्या को इस प्रकार प्रस्तुत करके अध्यक्ष महोदय ने लोगो को स्नेह-विभोर कर दिया। इस प्रकार के वातावरण में भरत ने सिर झुका-

कर हाथ जोड़कर गुरु के प्रति अपना सम्मान प्रकट किया और उनके ज्ञान और विवेक की प्रशंसा करते हुए कहा

बूझिअ मोहि उपाउ अब सो सब मोर अभागु ।
सुनि सनेहमय वचन गुरु उर उमगा अनुराग ॥

वशिष्ठ ने पहले भारत की बात को सच कहा, जो प्रभावकारी संवाद की कुशल कला है, पर उसके साथ ही उन्होने एक अनोखा सुझाव भी रखा। उन्होने कहा :

तात बात फुरि राम कृपाहीं । राम बिमुख सिधि सपनेहुँ नाहीं ॥
सकुचउँ तात कहत एक बाता । अरध तजहिं बुध सरबस जाता ॥
तुम्ह कानन गवनहु दोउ भाई । फेरिअहि लखन सीय रघुराई ॥

वह तो यह चाहते ही थे कि रामचद्र अयोध्या लौट चले और अपना राज्य सभालें। स्वय उनके मन मे यह भावना रही हो कि वह रामचंद्र के चरणो के निकट रहें भी। परतु भरत राम के आदर्श के अनुगामी थे, उनके शरीर के नही।

इसके विपरीत लक्ष्मण राम के अंग-रक्षक थे, इसलिए जहा लक्ष्मण ने राम के साथ चलने के लिए उनके नीति और उपदेश पर कोई ध्यान नही दिया और कहा :

धरमनीति उपदेसिअ ताही। कीरति भूति सुगति प्रिय जाही ॥
मैं सिसु तव सनेहँ प्रतिपाला । मंदर मेरु कि लेहिं मराला ॥

अत: भरत को, अध्यक्ष महोदय के इस प्रस्ताव पर कि रामचद्र अयोध्या जायं, पर भरत और शत्रुघ्न वन को जायं, तनिक भी कष्ट नही हुआ .

कानन करउँ जनम भरि बासू । एहिं तें अधिक न मोर सुपासू ॥
अंतरजामी रामु सिय तुम्ह सरबग्य सुजान ।
जौं फुर कहहु त नाथ निज कीजिअ वचनु प्रवान ॥

इस त्याग की आदर्श भावना के सामने अध्यक्ष महोदय भी किंकर्तव्य-विमूढ़ हो जाते है और समझ नही पाते कि भरत को क्या आदेश दे।

वशिष्ठ के मन मे सघर्ष इसलिए हो जाता है, क्योकि वह भी शायद भरत से इतने त्याग की आशा नही करते थे। तब यह सभा राम के पास जाती है । राम ने अध्यक्ष महोदय को प्रणाम करके सुदर आसन दिया। और फिर मुनिवर की आज्ञा पाकर लोग यथा स्थान बैठ गए। महर्षि वशिष्ठ ने फिर विचारपूर्वक देश, काल और अवसर के अनुसार राम को सबोधित किया

सुनहु राम सर्बग्य सुजाना। धरम नीति गुनग्यान निधाना ॥
सबके उर अंतर बसहु जानहु भाउ कुभाउ।
पुरजन जननी भरत हित होइ सो कहिअ उपाउ ॥

वशिष्ठ के मन मे राम के जग-मंगल वाले आदर्श को पूरा करवाने की कामना थी, पर अध्यक्ष-पद का निर्वाह उन्होने पूरी निष्पक्षता से किया और निर्णय श्री राम के ऊपर पूरी तरह छोड दिया । इस सुझाव मे विस्तृत आदेश नही, नैतिक निर्देश था कि रामचंद्र स्वय जो कुछ उचित समझें करें ।

राम भी साधारण व्यक्ति नही है। भारतीय शील-शिष्टाचार की परंपरा से ओत-प्रोत हैं । वह कहते है ·

प्रथम जो आयसु मो कहुँ होई। माथें मानि करौं सिख सोई ॥
पुनि जेहि कहँ जस कहब गोसाईं। सो सब भाँति घटिहि सेवकाई ॥

विचार-विमर्श

गुरु वशिष्ठ भगवान् राम के इस कथन से कि वह सब प्रकार आदेश मानने के लिए तत्पर है, दुविधा मे पड गए, परतु प्रकट रूप से उन्होने यह कहा कि रामचद्र ने भरत के अगाध स्नेह का विचार किये बिना ही बात कही है । उनका तात्पर्य यह है कि भरत तो एक निर्णय चाहते है । वशिष्ठ स्वय ऐसा कोई निर्णय नही चाहते । अध्यक्ष-पद पर आसीन होने के कारण वह अपना दृष्टिकोण निष्पक्ष रखते हैं और परस्पर राम और भरत के स्नेह और त्यागपूर्ण विचारो का समन्वय करते रहते है, जिसमे

वस्तुत. कोई विरोध नही, कोई संघर्ष नही। भरत की भक्ति और श्रद्धा पर प्रकाश डालते हुए वह कहते हैं :

तेहि तें कहउँ बहोरि बहोरी। भरत भगति बस भइ मति मोरी ॥
मोरें जान भरत रुचि राखी। जो कीजिअ सो सुभ सिव साखी ॥
भरत बिनय सादर सुनिअ करिअ बिचारु बहोरि।
करब साधुमत लोकमत नृपनय निगम निचोरि ॥

भरत की प्रार्थना आदर के साथ सुनिये। भरत छोटे भाई है। भक्ति-वश आर्त है। राम को वन से वापस लिवा जाना चाहते है, जो रामचद्र के जीवन के 'जग-मगल-हेतु' नामक उद्देश्य से विपरीत हो सकता है। राम सत्य-प्रतिज्ञ है लेकिन मर्यादा का पालन करनेवाले हैं, फिर भी उनके लिए अध्यक्ष महोदय का आदेश होता है कि वह भरत की बात आदरपूर्वक सुने। लेकिन स्नेही भाई की बात सुनकर उनके प्रभाव मे बह जाने की आवश्यकता नही। वह उसपर पुनः विचार करें।

उसके औचित्य-अनौचित्य तथा संभावित सुपरिणाम और कुपरिणाम का ध्यान से देखें। उनके विचारो को कार्यरूप मे परिणत करने से पहले उनका पूरा विवेचन कर ले। इस सुझाव का यह भी अर्थ नही कि वह निश्चित कार्य के सबध मे अपने निर्णय टालते रहे और कोई निर्णय न लें। कार्य का निर्णय करने के अवसर पर या भरत के सुझाव के अनुसार कार्य करने के अवसर पर साधुमत (सज्जनो, विद्वानो, बौद्धिक प्रतिभा-वाले व्यक्तियों) की राय ले लें।

गुरु वशिष्ठ के इस सुझाव को सुनकर रामचद्र बोले :

बोले गुरु आयुस अनुकूला। बचन मंजु मृदु मंगल मूला ॥
नाथ सपथ पितुचरन दोहाई। भयउ न भुअन भरत सम भाई ॥
जे गुरु पद अंबुज अनुरागी। ते लोकहुँ बेदहुँ बड़भागी ॥

साधारण दृष्टि से इस संवाद का विचार करनेवाले को यह मालूम हो सकता है कि वशिष्ठ, राम और भरत परस्पर एक-दूसरे पर निर्णय

डालते रहते हैं और अपना उत्तरदायित्व नही संभालना चाहते, लेकिन जो गभीर प्रसग उपस्थित है, उसमे तीनो का एक-दूसरे पर अगाध विश्वास है और वे एक-दूसरे की सलाह से कोई मार्ग निकालना चाहते हैं। आधुनिक प्रजातान्त्रिक परिषदो की तरह वे एक-दूसरे के प्रति अविश्वास का प्रस्ताव पेश करने के लिए नही, वरन् युग-युग के सम्मुख त्याग और एकता का आदर्श रखने को आये है। इसलिए

तब मुनि बोले भरत सन सब सँकोचु तजि तात।
कृपासिंधु निज बंधु सन कहहु हृदय कै बात॥

भरत को सुझाव दिया जाता है कि वह सकोच न करे। अपने कृपालु बडे भइया के सम्मुख हृदय की बात खोलकर रख दे। भरत गुरु का आदेश पाकर, रामचद्रजी का सकेत पाकर अपने ही सिर पर सारा उत्तरदायित्व देखकर मूक हो जाते हैं, सभा मे पुलकित होकर खडे हो जाते हैं। आखो से प्रेम के अश्रु वह निकलते हैं और अपने स्नेही अतर से श्रद्धा उडेल देते है -

कहब मोर मुनिनाथ निबाहा। एहि ते अधिक कहौं मै काहा॥
मैं जानहुँ निज नाथ सुभाऊ। अपराधिहु पर कोह न काऊ॥
मो पर कृपा सनेहु बिसेषी। खेलत खुनिस न कबहूँ देखी॥
सिसुपन तें परिहरेउ न संगू। कबहुँ न कीन्ह मोर मन भंगू॥

वह किसीको दोष नही देते। अपने अभाग्य को ही दोष देते है। राज्य की तृष्णा मे भरत राम के वनवास का कारण बने, यह उनके लिए बडी ग्लानि की बात थी, इसलिए :

साधु सभाँ गुर प्रभु निकट कहउँ सुथल सति भाउ।
प्रेम प्रपंचु कि झूठ फुर जानहिं मुनि रघुराउ॥

इस आध्यात्मिक परिषद् मे वशिष्ठजी और प्रधान श्री रामचद्रजी के समुख वह प्रेम प्रपच नही करते। झूठ-फुर (सत्य-असत्य) की नीति नही अपनाते।

इसके बाद भरत क्षोभ और ग्लानिवश सारी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

की चर्चा करते हैं, जिसके कारण रामचद्र वन मे गये। वह अपना हृदय उडेल देते हैं :

सुनि अति बिकल भरत बर बानी। आरति प्रीति विनय नय सानी।।
सोक मगन सब सभाँ खभारू। मनहुँ कमल बन परेउ सारू।।

भगवान् रामचद्र उचित वचन या मृदुल, मजुल और मगलमूल वाणी बोलते है। भरत के प्रति अगाध विश्वास प्रकट करते हुए कहते हैं :-

तात जायँ जियँ करहु ग़लानी। ईस अधीन जीव गति जानी।।
नीति काल तिभुअन मत मोरें। पुन्यसिलोक तात तर तोरें।।
उर आनत तुम्ह पर कुटिलाई। जाइ लोकु परलोकु नसाई।।
दोसु देहिं जननिहि जड़ तेई। जिन्ह गुर साधु सभा नहिं सेई।।

मिटिहहिं पाप प्रपंच सब अखिल अमंगल भार।
लोक सुजसु परलोक सुखु सुमिरत नामु तुम्हार।।

कहहुँ सुभाउ सत्य सिव साखी। भरत भूमि रह राउरि राखी।।

भरत को समझाते हुए रामचंद्र आगे कहते हैं :

तात कुतरक करहु जनि जाएँ। वैर प्रेम नहिं दुरइ दुराएँ।।
मुनिगन निकट बिहग मृग जाहीं। बाधक बधिक बिलोकि पराहीं।।
हित अनहित पसु पच्छिउ जाना। मानुष तनु गुन ग्यान निधाना।।
राखेउ रायँ सत्य मोहि त्यागी। तनु परिहरेउ पेम पन लागी।।
तासु वचन मेटत मन सोचू। तेहि तें अधिक तुम्हार सँकोचू।।
ता पर गुर मोहि आयसु दीन्हा। अवसि जो कहहु चहउँ सोइ कीन्हा।।

मनु प्रसन्न करि सकुच तजि कहहु करौं सोइ आजु।
सत्यसध रघुबर वचन सुनि भा सुखी समाजु।।

इतना समझाकर वह भरत से फिर आग्रह करते है कि सारा संकोच छोडकर प्रसन्न मन से वह जो कुछ भी कहेगे, वही वह कर देगे। सत्य-प्रतिज्ञ राम का यह निश्चय सुनकर परिषद् के सभी सदस्य प्रसन्न हो जाते हैं। रामचद्र के इस वचन से भरत की उत्तरदायित्व-भावना और

बढ जाती है। भरत ने स्वय .

निज सिर भारु भरत जियँ जाना। करत कोटि बिधि उर अनुमाना ॥
करि विचारु मन दीन्ही ठीका। राम रजायस आपन नीका ॥
निज पन तजि राखेउ पनु मोरा। छोहु सनेहु कीन्ह नहिं थोरा ॥
कीन्ह अनुग्रह अमित अति सब विधि सीतानाथ।
करि प्रनामु बोले भरतु जोरि जलज जुग हाथ ॥

रामचद्र के इस समझाने से भरत का आतरिक सघर्ष लगभग समाप्त हो जाता है। उनकी मनकीग्लानि इस आशका पर आधारित थी कि वह समझते थे कि शायद श्री रामचद्रजी अपने वन-गमन का कारण भरत को समझते हो और इससे रुष्ट हो; परन्तु यह स्थिति स्पष्ट हो जाती है। अत. भरत के आग्रह का, कि रामचद्रजी वापस चलें, अब कोई विशेष कारण नही रह जाता :

कहौं कहावौं का अब स्वामी। कृपा अंबुनिधि अंतरजामी ॥
गुर प्रसन्न साहिब अनुकूला। मिटी मलिन मन कलपित सूला ॥
लखि सब बिधि गुर स्वामिसनेहू। मिटेउ छोभु नहिं मन संदेहू ॥
अब करुनाकर कीजिअ सोई। जनहित प्रभु चित छोभु न होई ॥

भरत ने भगवान् रामचद्र से कहा कि वह वही करें जिससे जनता का हित हो और उनके हृदय मे भी किसी प्रकार का क्षोभ और सकोच न हो, क्योकि

उतरु देइ सुनि स्वामि रजाई। सो सेवकु लखि लाज लजाई ॥
अस मैं अवगुन उदधि अगाधू। स्वामि सनेहुँ सराहत साधू ॥
अब कृपाल मोहि सो मत भावा। सकुच स्वामि मन जाइ न पावा ॥
प्रभु पद सपथ कहउँ सति भाऊ। जग मंगल हित एक उपाऊ ॥

इस परिषद् का अत इस प्रकार सिद्धात और भावनाओं के समाधान द्वारा होना है। चिता और विचारशीलता से सभा का आरंभ हुआ था। वह स्थिति अब भी दूर नही हुई है, फिर भी भावनाओं का विस्तृत विवेचन हुआ है एवं त्याग और सद्भावना का एक अनोखा

आदर्श उपस्थित किया गया है। लोकतंत्र के लिए इस प्रकार परस्पर विचार-विमर्श द्वारा नेतृत्व का निर्माण और निर्वाह, आपस के विश्वास की वृद्धि और एक-दूसरे की भावनाओं, उनके कर्तव्यों के उहापोह के बाद एक मानसिक समन्वय होता है :

चुपहिं रहे रघुनाथ सँकोची। प्रमुदित देखि सभा सब सोची ॥

अनौपचारिक चर्चा

चित्रकूट की पहली बड़ी सभा के बाद राम की उपस्थिति में छोटी परिषद् होती है। उसके बाद जनक के आने पर एक अंतरंग सभा फिर एकत्र होती है। इसमे जनक के राज्य मिथिला के अनेक नागरिक और नेता तथा अयोध्या से आये हुए विप्र, महाजन, सचिव, सभासद् और रानियां भाग लेती है। गोस्वामीजी इसका वर्णन इस प्रकार करते है :

दोउ समाज निमिराजु रघुराजु नहाने प्रात।
बैठे सब बट बिटप तर मन मलीन कृस गात ॥
जे महिसुर दसरथ पुर बासी। जे मिथिलापति नगर निवासी ॥
हंस बंस गुर जनक पुरोधा। जिन्ह जग मगु परमारथु सोधा ॥
लगे कहन उपदेस अनेका। सहित धरम नय बिरति बिबेका ॥

अयोध्या और मिथिला के दोनों पक्ष योग्यता, निष्ठा और चित्रकूट तक आने के लक्ष्य में समान हैं। मिथिला के दल के साथ विश्वामित्रजी पधारे है। वह दोनो वर्गों के लिए अनेक उपदेश की बाते, जो धर्म, नीति, विरक्ति और विवेक से भरी हुई हैं, बताते है और सभा का वातावरण आकर्षक बनाते है। परंतु इस सभा में किसी प्रश्न-विशेष का निर्णय नही होता, क्योकि इसका उद्देश्य राजनीतिक, मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक है। इसके बाद वह सभी लोगो को विश्राम कराते है, भोजन कराते है, क्योकि उसके पहले वह उपवास कर चुके हैं। वनवासी हृदय से आतिथ्य करते हैं। आदिवासी संस्कृति का यह सुदर उदाहरण राष्ट्रीय एकता का आधार बनता है और इस वातावरण मे आदिम जातियो का

आतिथ्य देखते ही बनता है।

इस समय मिथिला और अयोध्या के दोनो समाजो मे एक ही चिंता का विषय है कि राम, सीता और लक्ष्मण वापस अवध चलें। सब लोग मन मे यही इच्छा करते हैं, सब लोग आपस में यही चर्चा करते हैं। श्री जनक की महारानी सुनयना आकर कौशल्या आदि से मिलती हैं। सुमित्रा इस परिस्थिति का दोप भाग्य को देती है। कौसल्या किसीको दोष न देते हुए हानि और लाभ को कर्म के अधीन बताती हैं और इस अनौपचारिक पारिवारिक समाज मे कौसल्या की चिंता विचारणीय है। वह कहती है

लखनु राम सिय जाहुँ वन भल परिनाम न पोचु।
गहबरि हियँ कह कौसिला मोहि भरत कर सोचु॥

कौसल्या को केवल इस बात का सोच है कि राम-सीता के बिना भरत सुखी नही रह पायेंगे। उनके सुख की चिंता कौसल्या माता के चरित्र का एक उज्ज्वल चित्र है और इससे प्राचीन सयुक्त परिवार के पारस्परिक शील-सतोष का आदर्श उदाहरण मिलता है। भरत के प्रति उनका विश्वास बाह्य रूप से दिखाई पडनेवाली पारिवारिक सघर्ष की खाई मे पुल का काम करता है। वह कहती हैं .

ईस प्रसाद असीस तुम्हारी। सुत सुतबधू देवसरि बारी॥
राम सपथ मै कीन्हि न काऊ। सो करि कहउँ सखी सति भाऊ॥
भरत सील गुन बिनय बड़ाई। भायप भगति भरोस भलाई॥
कहत सारदहु कर मति हीचे। सागर सीप कि जाहिं उलीचे॥

कौसल्या मिथिलेश्वरी महारानी सुनयना के मन को प्रबोध देती हैं और कहती है

कौसल्या कह धीर धरि सुनहु देबि मिथिलेसि।
को बिबेकनिधि बल्लभहि तुम्हहि सकइ उपदेसि॥

महारानी सुनयना अवसर पाकर जनक से अपना सदेश कहती है। इन चर्चाओ मे कोई कैकेयी को दोष नही देता। कैकेयी को बुरा-भला

भी नही कहता या विवाद की परिस्थिति भी नही उपस्थित करता। चित्रकूट मे दोनों समान आदर्श, एकता और समरसता का अनुभव करते हैं।

महारानी कौसल्या महारानी सुनयना का उचित सत्कार करती है और महारानी सुनयना महारानी कौसल्या का उचित सम्मान। फिर सीता जनकपुर के समाज से मिलती है :

प्रिय परिजनहि मिली बैदेही। जो जेहि जोगु भाँति तेहि तेही॥

सीता जव अपने पिता से मिलती है, तो बड़ा ही मार्मिक स्नेहपूर्ण दृश्य उपस्थित होता है :

लीन्हि लाइ उर जनक जानकी। पाहुनि पावन पेम प्रान की॥
उर उमगेउ अंबुधि अनुरागू। भयउ भूप मनु मनहुँ पयागू॥
सिय सनेह बटु बाढ़त जोहा। ता पर राम पेम सिसु सोहा॥

मारकडेय ऋषि के प्रलयकालीन अनुभव का यह पूर्ण रूपक वात्सल्य के इस प्रसग में बड़े सुदर ढग से व्यक्त हुआ है, परंतु सीता ऐसे अवसर पर स्वय धीरज धारण करती हैं। पौराणिक कल्पना के अनुसार वह स्वयं उस धरती की पुत्री है, जो काव्य मे धीरज की प्रतीक समझी जाती है। इसीलिए :

सिय पितु मातु सनेह बस बिकल न सकी सँभारि।
धरनिसुताँ धीरजु धरेउ समउ सुधरमु बिचारि॥

महारानी सुनयना ने भी भरत के शील-स्वभाव की प्रशंसा की, विदेह-राज का भरत के प्रति संदेह का कोई प्रश्न नही था, फिर भी सुनयना द्वारा प्रशसा से कौटबिक एकता की भावना और भी दृढ होती है। इस प्रकार ऊपर के प्रसंग मे व्यवस्थित सभा न होकर छोटे-छोटे समुदायो मे विचारो का और भावनाओं का आदान-प्रदान होता है। महारानी सुनयना महारानी कौसल्या आदि से मिलती है, सीता अपने माता-पिता से मिलती है। सभी भरत की प्रशंसा अलग-अलग और सामूहिक रूप से करते है और इस निष्कर्ष पर पहुंचते है :

भरत चरित कीरति करतूती। धरम सील गुन बिमल बिभूती॥
समुझत सुनत सुखद सब काहू। सुचि सुरसरि रुचि निदर सुधाहू॥

भरत के व्यक्तित्व की विशेषता उनके निजी गुणो मे तो है ही, राम के प्रति उनके प्रेम मे वह और विशद रूप मे प्रकट होती है। महाराज जनक रानी सुनयना से कहते हैं :

भरत अमित महिमा सुनु रानी। जानहिं रामु न सकहिं बखानी॥
बरनि सप्रेम भरत अनुभाऊ। तिय जिय की रुचि लखि कह राऊ॥
बहुरहिं लखनु भरत बन जाहीं। सब कर भल सब के मन माहीं॥
देबि परंतु भरत रघुबर की। प्रीति प्रतीति जाइ नहिं तरकी॥
भरतु अवधि सनेह ममता की। जद्यपि रामु सीम समता की॥
परमारथ स्वारथ सुख सारे। भरत न सपनेहुँ मनहुँ निहारे॥
साधन सिद्धि राम पग नेहू। मोहि लखि परत भरत मत एहू॥

जनक द्वारा श्रीराम और भरत का यह मूल्याकन उनकी एकता को गौरव प्रदान करता है। व्यक्तिगत सपर्क का यह क्रम आगे बढता है। रामचद्र स्नान करके गुरु वशिष्ठ के पास जाते है, और उचित आज्ञा मागते है। इस प्रकार कई प्रकार की चर्चा मे अनौपचारिक रूप मे होती हैं और सब एक दूसरे की स्थिति समझते हैं।

प्रजातांत्रिक निर्णय

इतनी सारी चर्चाओ के बाद भी जब कुछ निर्णय नही हो पाता और रामचद्र भी सब समझाने के बाद अंतिम निर्णय भरत के ऊपर ही रख देते है तो भरत कुछ असमजस मे पड जाते है। वैसे उनके मन से शका हट गई है, पर फिर भी वह यह चाहते है कि उनके लिए कोई और निर्णय कर दे। इस बीच पिता-समान श्वसुर जनकजी भी सपरिवार वहा आ जाते है। दोनों कुटुबियो के बीच अनौपचारिक चर्चाएँ हुईं, पर कोई विशेष परिणाम नही निकला। ऐसी भी स्थिति मे भरत ने जनकजी से अपने मन के भाव कहे :

प्रभु प्रिय पूज्य पिता सम आपू। कुलगुरु सम हित माय न बापू ॥
कौसिकादि मुनि सचिव समाजू। ग्यान अंबुनिधि आपुन आजू ॥
सिसु सेवकु आयसु अनुगामी। जानि मोहि सिख देइअ स्वामी ॥
राखि राम रुख धरमु ब्रतु पराधीन मोहि जानि।
सबकें संपत सर्ब हित करिअ पेमु पहिचानि ॥

भरत की वाणी में सरलता, दुर्गमता, कोमलता और कठोरता है। उसमे अक्षर थोड़े हैं परन्तु उनका अर्थ गभीर है।

उनकी बात सुनकर महाराज जनक रामचद्र के पास जाते है। रामचंद्र उनका आदर करते है। समय, समाज और धर्म के अनुकूल उनसे बात करते है। जनक उन्हे भरत की भावनाओ का पूरा विवरण देते हैं और कहते हैं :

तात राम जस आयसु देहू। सो सब करिहि मोर मत एहू ॥

रामचंद्र भी उसी प्रकार राजा जनक से प्रार्थना करते है कि वह ही उचित आदेश दें। क्योकि जनकजी पिता के तुल्य है और उनके आदेश का पालन करने मे ही राम की महानता है।

सुनि रघुनाथ जोरि जुग पानी। बोले सत्य सरल मृदु बानी ॥
बिद्यमान आपुनि मिथिलेसू। मोर कहब सब भाँति भदेसू ॥
राउर राय रजायसु होई। राउरि सपथ सही सिर सोई ॥

रामचंद्र की बात सुनकर जनक विचार मे पड़ गये। सारी स्थिति समझकर वह निर्णय करने मे संकोच करने लगे और फिर निर्णय भरत के ऊपर ही आ गया :

राम सपथ सुनि मुनि जनकु सकुचे सभा समेत।
सकल बिलोकत भरत मुखु बनइ न ऊतरु देत ॥

पर भरत ने बहुत नम्रता, शील, संकोच और स्नेह के साथ अपने मन की बात फिर विस्तार से सारे समाज के सामने रखी। सेवक धर्म का मार्मिक विवेचन किया। अपनी धृष्टता के लिए क्षमा मागी और स्वयं निर्णय लेने मे अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए स्पष्ट आज्ञा मांगी :

सुहृद सुजान सुसाहिबहि बहुत कहब बड़ि खोरि।
आयसु देइअ देव अब सबइ सुधारी मोरि॥

इतना कहकर भरत रामचद्र के चरणो मे झुक गए। राम ने उन्हें स्नेहपूर्वक हाथ पकडकर अपने पास बिठा लिया। सब लोगो ने निर्णय भरत पर छोडा और भरत ने रामचद्र पर।

अब रामचद्र को ही निर्णय लेना था। इसलिए सब सोच-विचारकर राम ने भरत से कहा

तात भरत तुम्ह धरम धुरीना। लोक वेद बिद प्रेम प्रबीना॥
करम बचन मानस बिमल तुम्ह समान तुम्ह तात।
गुर समाज लघु बंधु गुन कुसमयँ किमि कहि जात॥

रामचद्र भरत को सूर्यवश की रीति का स्मरण दिलाते हैं। गोस्वामी जी ने पहले ही लिखा है :

रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्रान जाहि पर बचनु न जाई॥
तुम्हहि बिदित सबही कर करमू। आपन मोर परम हित धरमू॥
मोहि सब भाँति भरोस तुम्हारा। तदपि कहउँ अवसर अनुसारा॥
तात तात बिनु बात हमारी। केवल गुरकुल कृपाँ सँभारी॥
नतरु प्रजा परिजन परिवारू। हमहि सहित सबु होत खुआरू॥

यहा ट्रस्टीशिप के सिद्धात का बडा मार्मिक विवेचन होता है, जिसने भारत की राज-परपरा को सदियो तक पवित्र रखा था। भारतीय सस्कृति की इस परपरा के नष्ट होने पर ही राजा निरकुश और विलासी हुए। उनकी परपरा समाप्त होते-होते उन्हे भी समाप्त हो जाना पडा। वह कहते हैं :

राम काज सब लाज पति धरम धरनि धन धाम।
गुर प्रभाउ पालिहि सबहि भल होइहि परिनाम॥
सहित समाज तुम्हार हमारा। घर बन गुर प्रसाद रखवारा॥
मातु पिता गुर स्वामि निदेसू। सकल धरम धरनीधर सेसू॥
सो तुम्ह करहु करावहु मोहू। तात तरनिकुल पालक होहू॥

इस आदेश में भरत के मन को क्लेश होता है, लेकिन अपने ऊपर भारी संकट सहकर भी प्रजा और परिवार को सुखी करने की समस्या थी। इसलिए रामचंद्र का निर्णय यह होता है :

साधक एक सकल सिधि देनी। कीरति सुगति भूतिमय बेनी ॥
सो बिचारि सहि संकटु भारी। करहु प्रजा परिवारु सुखारी ॥
बाँटी बिपति सबहिं मोहि भाई। तुम्हहि अवधि भरि बड़ि कठिनाई ॥

निर्णय कठोर है, लेकिन बड़ी आत्मीयता और बडी ही कोमलता से व्यक्त किया गया है :

जानि तुम्हहि मृदु कहउँ कठोरा। कुसमयँ तात न अनुचित मोरा ॥
होहिं कुठायँ सुबंधु सहाये। ओड़िअहिं हाथ असनिहु के घाए ॥

यह कठोर निर्णय कि रामचद्र वापस न जायँ और भरत अवधि तक (१४ वर्ष) कष्ट सहे, भरत के हृदय की मृदुलता को जानते हुए भी किया गया; क्योकि ऐसे संघर्ष-स्थल मे भरत-जैसे विनयशील और त्यागी भाई ही सहयोगी हो सकते थे। तलवार का घाव अपना हाथ ही झेलता है .

निर्णय हो गया और अद्भुत बात तो यह हुई कि सारे समाज की, भरत की, जनक की और शायद वशिष्ठ की भी इच्छा के विरुद्ध निर्णय हुआ। फिर भी क्रम-क्रम से नैतिक और मनोवैज्ञानिक रीति-नीति द्वारा इस निर्णय की कठोरता इतनी कम कर दी गई कि किसीको इसमें दुख नही हुआ :

सभा सकल सुनि रघुबर बानी। प्रम पयोधि अमिअ जनु सानी ॥
सिथिल समाज सनेह समाधी। देखि दसा चुप सारद साधी ॥
भरतहि भयउ परम संतोषू। सनमुख स्वामि बिमुख दुख दोषू ॥
मुख प्रसन्न मन मिटा बिषादू। भा जनु गूँगेहि गिरा प्रसादू ॥
कीन्ह सप्रेम प्रनामु बहोरी। बोले पानि पंकरुह जोरी ॥

भरत को भी सतोष हो गया। उनके मन की ग्लानि मिट गई थी। इस निर्णय को वह गंभीरता के साथ स्वीकार करते है और कहते हैं :

नाथ भयउ सुखु साथ गए को । लहेहुँ लाहु जग जनमु भए को ॥
अब कृपाल जस आयसु होई । करौं सीस धरि सादर सोई ॥
सो अवलंब देव मोहि देई । अवधि पारु पावौं जेहि सेई ॥

इसके बाद विषयांतर करने के लिए भरत पवित्र चित्रकूट का दर्शन करने की कामना करते हैं । तीर्थों का जल एकत्र करना चाहते हैं । राम का अभिषेक करना चाहते हैं । रामचंद्र इन सबके लिए उचित सुविधा तुरंत देते हैं । इस प्रसंग से अयोध्या और मिथिला के सभी आये हुए नागरिको और प्रतिनिधियो के मन पर एकता और सहयोग की छाप पड जाती है । उनका तो कहना ही क्या, स्वार्थी देवता तक प्रसन्न हो जाते हैं :

भरत राम संबादु सुनि सकल सुमंगल मूल ।
सुर स्वारथी सराहि कुल बरषत सुरतरु फूल ॥

भरत और राम के सहयोग को, उनके मर्यादा-पालन को, उनकी सत्य-निष्ठा को, धर्म-प्रियता को, उनके नियम और प्रेम के स्वभाव को, सभी सभासद् सराहने लगते है । विप्रो की कृपा से ही तो यह मनोवैज्ञानिक और नैतिक स्थिति प्राप्त हुई थी । इसलिए ईर्ष्या और प्रतिद्वंद्विता नही, बल्कि परस्पर प्रेम का वातावरण बनता है और लोग भरत और राम की प्रीति-रीति की प्रशंसा करते हैं :

एक कहहिं रघुबीर बड़ाई । एक सराहत भरत भलाई ॥

इस प्रसन्नतापूर्ण वातावरण मे यह प्रसंग समाप्त होता है । इसके अंत की परिणति और मधुर हो जाती है जब भरत रामचंद्र की पादुका प्राप्त करते हैं और पूरी सद्भावना और पूरे संतोष से मन मे एक अजीब दु:ख की भावना लेकर लोग विदा होते है । भरत अयोध्या लौटकर राज्य की भी व्यवस्था करते हैं जिससे यह मालूम होता है कि अब वह रामचंद्र की थाती के रूप मे राज्य-भार संभालने का अपना कर्तव्य निभा रहे है और रामचंद्र का यह आदेश क्षण-क्षण याद रहता है :

तात तुम्हारि मोरि परिजन की । चिंता गुरहिं नृपहि घर बन की ॥

माथे पर गुर मुनि मिथिलेसू । हमहि तुम्हहि सपनेहुँ न कलेसू ॥
मोर तुम्हार परम पुरुषारथु । स्वारथु सुजसु धरमु परमारथु ॥
पितु आयसु पालिहिं दुहु भाई । लोक बेद भल भूप भलाई ॥
गुर पितु मातु स्वामि सिख पालें । चलेहुँ कुमग पग परहिं न खालें ॥
अस बिचारि सब सोच बिहाई । पालहु अवध अवधि भरि जाई ॥
देसु कोसु परिजन परिवारू । गुर पद रजहिं लाग छरु भारू ॥
तुम्ह मुनि मातु सचिव सिख मानी । पालेहु पुहुमि प्रजा रजधानी ॥

जो आध्यात्मिक लोकतंत्र का आदर्श था, इसमे नेता के व्यवहार की नीति साफ शब्दो मे दी गई है और इसीलिए यह दोहा बहुत लोकप्रिय हो गया है :

मुखिया मुख सो चाहिए खान पान कहुँ एक ।
पालइ पोषइ सकल अँग तुलसी सहित बिबेक ॥

सभाशास्त्र के इस प्रसंग मे केवल हम इतना कह सकते है कि रामायण-कालीन भारत और आज के वैधानिक प्रजातंत्र के युग मे बहुत अंतर होते हुए भी एक सैद्धातिक समानता है, जो सामाजिक व्यवहार के इन स्वरूपो पर बल देती है । समाज मे एक-दूसरे का आदर करना, एक-दूसरे की भावनाओ का ध्यान करना, मृदुलता किंतु कठोरता से कर्तव्य का पालन करना और सहज-सरल वाणी से सभा का संचालन करना ।

इनको अच्छी तरह समझकर इनसे अपने व्यवहार मे उचित या आवश्यक परिवर्तन करने के प्रयास से ही समाज का सास्कृतिक संगठन किया जा सकता है ।

: १४ :

व्यवहार की रीति-नीति—१

एक लोकप्रिय और व्यावहारिक मानव-सवध-विशेषज्ञ ने लोकप्रियता के लिए निम्नलिखित पाच सूत्र दिये है :

(१) पर-हित के प्रति सच्ची रुचि ।

(२) सबसे हँसते-मुसकराते हुए मिलना ।

(३) लोगो के नामो को याद रखना ।

(४) दूसरो की वातो को ध्यान और धीरज से सुनना ।

(५) दूसरे व्यक्ति को गौरव देना ।

पर-हित के प्रति सच्ची रुचि

इन सिद्धातो को वीसवी शताब्दी की मौलिक खोज नही कहा जा सकता, क्योकि मानव-सवधो के लिए युग-युग से इनका महत्त्व स्वीकार किया गया है । गोस्वामीजी ने बार-बार यह कहा है

परहित बस जिनके मन माहीं । तिन कहँ जग दुर्लभ कछु नाहीं ॥

परहित लागि तजहिं जेइ देही । सतत संत प्रशसहि तेहीं ॥

सतो के चरित्र का वर्णन करते हुए उन्होने कहा है ·

साधु चरित सुभ सरिस कपासू । निरस बिसद गुनमय फल जासू ॥

जो सहि दुख परछिद्र दुरावा । बंदनीय जेहिं जग जस पावा ॥

स्वय दुःख सहकर भी दूसरो के कष्ट को दूर करना सतो का स्वभाव-धर्म है ·

वैसे तो गोस्वामीजी ने दुष्टो की भी वदना की है, लेकिन उस वंदना मे स्पष्ट व्यग है और यह व्यग उनके पर-हित को ध्यान मे रखनेवाली बात के महत्त्व को वढाता ही है । उन्होने लिखा है :

बहुरि बंदि खल गन सति भाएँ। जे बिनु काज दाहिनेहु बाएँ ॥
परहित हानि लाभ जिन्ह केरें। उजरें हर्ष बिषाद बसेरें ॥

संत-हृदय का विस्तृत विवेचन करते हुए गोस्वामीजी ने परहित-भावना को सबसे अधिक गौरव दिया है। वह लिखते है :

संत बिटप सरिता गिरि धरनी। परहित हेतु सबन्हि कै करनी ॥
संत हृदय नवनीत समाना। कहा कबिन पर कहइ न जाना ॥
निज परिताप द्रवइ नवनीता। पर दुख द्रवहिं संत सुपुनीता ॥

सतो का हृदय मक्खन के समान कोमल होता है, इतना कहना पर्याप्त नही, क्योकि मक्खन अपने ताप (दुःख-गर्मी) से पिघलता है, पर सत तो दूसरो के दुख से ही द्रवित हो जाते है।

ये उक्तियां मानव-धर्म से सम्बन्धित है और इनमें किसी प्रकार की चतुराई या छल या स्वार्थपरता की भावना नही की जा सकती, क्योंकि परहित की भावना से सकीर्ण स्वार्थ-भावना का पूरा विरोध है। रामचंद्र के जन्म का उद्देश्य ही परहित था। गोस्वामीजी ने कहा है :

रामजनम जग-मगल हेतू।

फिर वह कहते है .

नर तन धारि संत सुर काजा। कहहु करहु जस प्राकृत राजा ॥

रामचद्रजी का जन्म ही ससार के मगल के लिए था। उन्होने देवताओ और सतो के हित के लिए ही मानव-शरीर धारण किया था।

लक्ष्मण का अवतार राम की सेवा और राम के उद्देश्य की पूर्ति के लिए है। भरत इस जगमगल मे सहायक होते है और आत्म-त्याग का अद्भुत उदाहरण ससार के सामने रखते है। हनुमान, निषाद, अगद, विभीषण, सुग्रीव सभी रामकाज मे, अर्थात् जनहित मे, लगते है। इसीलिए आजतक उनका नाम श्रद्धा और आदर के साथ लिया जाता है। सच पूछिये तो सच्चे परहित मे ही सच्चा आत्म-हित है, क्योकि नीति का सिद्धात है :

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।

" दूसरे के साथ ऐसा आचरण न कीजिये, जैसा आप चाहते हो कि दूसरे आपके साथ न करें।

सबसे हँसते-मुस्कराते हुए मिलना

इसका अर्थ है—प्रसन्न मुद्रा रखना, जिसमे आनद और मगल का वातावरण विकसित हो। इसके उदाहरण तो रामचरितमानस मे भरे पडे है। पहले सवाद का जो मानस की भूमिका के रूप मे बाल-काड मे वर्णित है, पहला वाक्य मुस्कान से आरभ होता है। मुनि भरद्वाज माघ के सास्कृतिक सम्मेलन के बाद याज्ञवल्क्य को आग्रहपूर्वक अपने आश्रम मे रोक लेते हैं और भगवान् राम की कथा का रहस्य पूछते हैं .

जागबलिक बोले मुसुकाई। तुम्हहि बिदित रघुपति प्रभुताई ॥

भगवान् राम पहली बार पार्वती से मिलते है। पार्वती उनकी परीक्षा करना चाहती हैं, इसलिए सीता का रूप धारण कर लेती हैं। रामचद्र सीता की खोज के लिए विह्वल हैं, इसलिए सभव था कि वह भ्रम मे पड जाते। परतु राम सर्वज्ञ थे, सज्जन थे, इसलिए उन्होने कहा

निज माया बलु हृदयँ बखानी। बोले बिहसि राम मृदु बानी ॥

और शकर भी ऐसे ही एक प्रकरण मे हँसकर बोलते हैं, जब उनसे प्रश्न किया जाता है कि नारद ने भगवान् विष्णु को श्राप क्यो दिया ? तो :

बोले बिहसि महेश तब ग्यानी मूढ न कोय।
जहि जस रघुपति करहि जब सो तेहि क्षण तस होय ॥

और रामचद्र तो जन्म से ही :-

उपजा जब ग्याना प्रभु मुस्काना चरित बहुत बिधि कीनि चहे।
कहि कथा सुहाई मातु सुनाई जेहि प्रकार सुत प्रेम लहे ॥

अयोध्याकाड मे मध्य मे राम-वाल्मीकि-सवाद मे रामचद्र की विस्तृत भूमिका से वाल्मीकि प्रसन्न होते है और भगवान् के सच्चे स्वरूप का

विवेचन करते हैं। यह संकोचपूर्ण स्थिति है। इसलिए :

सुनि मुनि बचन प्रेम रस साने। सकुचि राम मन महुँ मुसुकाने ॥

और फिर :

बालमीकि हँसि कहहि बहोरी। बानी मधुर अमी रस बोरी ॥

राम और भरत का संवाद अधिक मार्मिक है, और उसमें गंभीरता तथा करुणा का वातावरण है, फिर भी :

भरत बचन सुनि मुनिबर हरषे। साधु सराहि सुमन सुर बरषे ॥
असमंजस बस भे सुखरासी। प्रमुदित मन तापस बनबासी ॥

और हनुमानजी तो :

प्रभु पहचानि परेउ गहि चरना। सो सुखु उमा जाइ नहिं बरना ॥
पुलकित तन मुख आव न बचना। देखत रुचिर बेष कै रचना ॥
पुनि धीरजु धरि अस्तुति कीन्ही। हरष हृदयँ निज नाथहि चीन्ही ॥

नम्रता, प्रसन्नता, विनय और मुस्कान—ये मानव-व्यवहार के आरंभिक आधार हैं।

लोगों के नामों को याद रखना

नाम-स्मरण का महत्त्व तो गोस्वामीजी ने बड़े ही विस्तार, उत्साह और अनुभव के साथ दिया है। उन्होने यह प्रमाणित करने की कोशिश की है कि 'ब्रह्म राम से नाम बड़'। इस सम्बन्ध मे उन्होने आगे लिखा है :

राम एक तापस तिय तारी। नाम कोटि खल कुमति सुधारी ॥
भंजेऊ राम आप भव चापू। भव भय भंजन नाम प्रतापू ॥
दंडक बन प्रभु कीन्ह सुहावन। जन मन अमित नाम किये पावन ॥
निसिचर निकर दले रघुनंदन। नाम सकल कलि कलुष निकंदन ॥

सबरी गीध सुसेवकनि सुगति दीन्ह रघुनाथ।

नाम का महत्त्व लिखते हुए गोस्वामीजी ने एक जगह यह भी लिखा है

देखिय रूप नाम बिनु जाने । करतल गत न परत पहचाने ॥
नाम उधारे अमित खल वेद विदित गुन गाथ ॥

यदि किसीका रूप सामने भी हो, पर उसका नाम न मालूम हो तो उसे जाना या पहचाना नही जा सकता ।

और इसलिए इसमे कोई आश्चर्य नही कि ·

नाम जपत प्रभु कीन्ह प्रसादा । भगत शिरोमनि भये प्रहलादा ॥
ध्रुव सगलानि जपेहु हरि नाऊँ । पायहु अचल अनूपम ठाऊँ ॥
सुमिरि पवनसुत पावन नामू । अपने वस करि राखेउ रामू ॥

यदि आपको किसीको वश मे करना है तो उससे नम्रता से बातचीत करना और उसके नाम का स्मरण रखना बहुत आवश्यक है ।

दूसरो की बात को ध्यान और धीरज से सुनना

मानस मे इस सिद्धात का सर्वाधिक प्रतिपादन है, क्योकि मानस की सारी कथा सवाद के रूप मे है । राम की कथा याज्ञवल्क्य ने भरद्वाज को, शिव को ने पार्वती और कागभुशुडि ने गरुड को सुनाई है । सबने ध्यानपूर्वक इस कथा को सुना है और उससे श्रोता और वक्ता मे बडी आत्मीयता स्थापित हुईहै । इस विषय की चर्चा हम केवल सक्षेप मे करेंगे, क्योकि पहले ही इस पर विस्तृत विचार किया जा चुका है । यहा हम केवल राम-वाल्मीकि-सवाद मे राम द्वारा अपनी समस्या को सामने रखना, वाल्मीकि द्वारा उनके आध्यात्मिक स्वरूप की उन्हे याद दिलाना और फिर ऐसे स्थानो का विस्तृत विवरण देना, जहा राम, सीता और लक्ष्मण निवास कर सकें, बहुत मार्मिक है । राम बहुत धैर्य, उत्सुकता और नम्रता से वाल्मीकि का दार्शनिक सिद्धात सुनते है । रामचद्र पुरवासियो की बात शातिपूर्वक सुनते है । सीता कुटिया मे आनेवाली ग्राम्य वधूटियो की बात शातिपूर्वक सुनती है । पर दूसरी ओर रावण मदोदरी, विभीषण या सुमन्त, किसीकी बात नही सुनता । जो लोग दूसरो के विचार या अनुभव से लाभ नही उठाना चाहते, या जो अपना ही दृष्टिकोण दूसरो के

सामने रखना चाहते है, वे ही प्राय: दूसरो की बात धैर्यपूर्वक नही सुन पाते और वे वार-बार अपनी ही बात कहने का प्रयास करते है। उनकी बात से लोग ऊब जाते है, उन्हे अभिमानी समझते है और उनकी सलाह पर चलने के लिए तैयार नही होते।

दूसरे व्यक्तियों को गौरव देना

नम्रतापूर्ण व्यवहार मे दूसरे व्यक्तियो को गौरव देना एक आवश्यक नीति मानी जाती है। भरद्वाज ने याज्ञवल्क्य को रोक कर एक प्रकार से याज्ञवल्क्य को गौरव दिया। महाराज दशरथ ने विश्वामित्र को गौरव दिया :

नाथ दियउ गौरव गिरिबर हू .

रामचंद्र ने परशुराम को गौरव दिया, यद्यपि परशुराम बडे क्रोधी थे, और लक्ष्मण ने उनके क्रोध का परिहासपूर्ण उत्तर देकर उसे और भी बढा दिया था। परशुराम इस क्रोध मे अपना कर्तव्य धर्म भूलकर पागल-से हो रहे थे, लेकिन राम ने केवल इतना ही कहा :

अति बिनीत मृदु सीतल बानी। बोले रामु जोरि जुग पानी॥
सुनहु नाथ तुम्ह सहज सुजाना। बालक बचनु करिअ नहिं काना॥
बररै बालकु एकु सुभाऊ। इन्हहिं न संत बिदूषहिं काऊ॥
तेहिं नाहीं कछु काज बिगारा। अपराधी मैं नाथ तुम्हारा॥
कृपा कोपु बधु बँधब गोसाईं। मो पर करिअ दास की नाईं॥

उसके बाद भी परशुराम का क्रोध शात नही हुआ। राम की इस नम्रता मे कटुता या क्षणिक भावना नही है, यह तो उनके चरित्र की विशेषता है। वाल्मीकि के आश्रम में तो उन्होने नम्रता की हद कर दी :

तब कर कमल जोरि रघुराई। बोले बचन श्रवन सुखदाई॥
तुम्ह त्रिकालदरसी मुनिनाथा। बिस्व बदर जिमि तुम्हरें हाथा॥
अस कहि प्रभु सब कथा बखानी। जेहि जेहि भाँति दीन्ह बनु रानी॥

दु:ख को सुख की कल्पना देना और जीवन की एक दु:खद घटना को

ऋषि के दर्शन का सुअवसर बताना महर्षि वाल्मीकि को गौरव देना है।
अत्रि के आश्रम मे भी :

पुलकित गात अत्रु उठि धाए। देखि रामु आतुर चलि आए॥
करत दडवत मुनि उर लाए। प्रेम बारि द्वौ जन अन्हवाए॥

और :

अनसुइया के पद गहि सीता। मिली बहोरि सुसील बिनीता॥
रिषिपतिनी मन सुख अधिकाई। आसिष देइ निकट बैठाई॥

बड़ो को आदर देने से उनका आशीर्वाद प्राप्त होता है और छोटों को आदर देने मे उनका स्नेह और सम्मान मिलता है। इसीलिए वशिष्ठजी ने रामचद्र से कहा था :

भरत बिनय सादर सुनिय करिय बिचार बहोरि।
करत साधुमत लोकमत नृपनय निगम निचोरि॥

तिरस्कार करने से तिरस्कार मिलता है। अंगद-रावण-संवाद और परशुराम-लक्ष्मण-सवाद मे दोनो एक-दूसरे का अनादर करते हैं और उसका परिणाम केवल सघर्ष और अशाति होती है।

: १५ :

व्यावहारिक रीति-नीति—२

व्यवहार के कुछ और सिद्धांत. रामचरितमानस की दृष्टि से विचारणीय हैं। हम संक्षेप मे निम्नलिखित सिद्धातों पर चर्चा करेगे।

१. किसीको अपने विचार मनवाने के लिए तर्क और विवाद का सहारा नही लेना चाहिए।

२. दूसरे व्यक्ति के विचारों के प्रति आदर की भावना होनी चाहिए।

३. अपनी त्रुटि शीघ्र स्वीकार कर लेनी चाहिए।

४. दूसरे की दृष्टि से घटनाओं या वस्तुओं को देखने का प्रयास करना चाहिए।

५. दूसरो के विचारों या भावनाओं के प्रति सहानुभूति होनी चाहिए; और,

६. किसी उच्च आदर्श या सिद्धांत पर चलने में हर कठिनाई सहन करने के लिए तैयार रहना चाहिए।

१. मानस मे तर्क और विवाद के प्रसंग भी आते हैं लेकिन वे लक्ष्मण या अंगद अथवा परशुराम या रावण को अपने अनुकूल नही बना पाते। राम की नम्रता और उनका पराक्रम ही उन्हें विजय प्रदान करता है। हनुमान का विवाद सुरसा से होता अवश्य है लेकिन अंत मे नम्रता से ही उनकी जीत होती है, जब वह मशक के समान छोटे बन जाते हैं।

२ संवाद के प्रसंग में हमने यह चर्चा की है कि गरुड़ द्वारा कागभुशुंडि के चरणो मे बैठकर श्रीरामचरित सुनना और ज्ञान-चर्चा करना, दूसरो के विचारो के प्रति सम्मान का अद्भुत उदाहरण है। रामचंद्र पुरवासियों की राय पूछते और स्वीकार करते है। गुरु वशिष्ठ भरत और राम तथा अयोध्या के सभासदों की भावनाओं का सम्मान करते है

३. समाज मे प्राय विवाद और सघर्ष इसलिए होते हैं कि लोग अपनी त्रुटि स्वीकार नही करते । इसके लिए जिस प्रकार के आत्म-दमन और नैतिक वल की आवश्यकता होती है, उसका प्राय लोगो मे अभाव पाया जाता है। इसलिए जव कोई असफलता हो जाती है, तो प्रत्येक व्यक्ति दूसरे के ऊपर दोप मढता है और अपराधी व्यक्ति अपनी वड़ी-से-वडी भूल स्वीकार नही करता । दोपारोपण धीरे-धीरे प्रचार का रूप ले लेता है । इस प्रकार दो व्यक्तियो या वर्गो मे तनाव वढता है और तनाव के सघर्प की सभावना वढती है । इसके विपरीत यदि कोई घटना अरुचिकर हो जाय और उसमे कोई व्यक्ति अपना विशेप दोष न होते हुए भी अपनी गलती मान ले तो झगडा वही रुक जाता है और भविष्य मे उसके वढने की सभावना भी रुक जाती है ।

एक लोकश्रुति है कि एक वार एक परिवार मे एक जेठानी और एक देवरानी रहती थी । दोनो वहिनो की तरह आपस मे प्रेम से रहती थी और उनमे कोई झगडा नही होता था । प्राय' लोगो को इस वात पर आश्चर्य होता था । जनश्रुति है कि स्वय शारदा (वुद्धि की देवी) को भी इनके पारस्परिक प्रेम से ईर्ष्या हुई और उन्होने निश्चय किया कि इनके प्रेम की परीक्षा ली जाय । एक दिन दोनो वहिनें खाना वना रही थी। एक रोटी वेल रही थी, दूसरी सेंक रही थी । उनके पति, दोनो भाई, खाने के लिए आनेवाले थे, इसलिए एक ने प्रस्ताव किया कि "चलो, छीके से घी की मटकी उतार लायें ।" एक ने ऊचे वढकर उस मटकी को उतारा । फिर वह उसे देवरानी को देने लगी । उसी बीच मे मानों किसी अज्ञात शक्ति ने हाथ हिला दिया और मटकी गिर गई । ऐसी परिस्थिति मे स्वाभाविक प्रतिक्रिया यह होती कि एक कहती, दूसरी ने ठीक से मटकी को हाथ मे नही सभाला, और दूसरी कहती कि पहली ने उसे ठीक से नही थमाया, और इसी बात पर दोनो मे विवाद हो जाता । लेकिन यहा उल्टी ही वात हुई । जो वहिन नीचे थी, उसने कहा, "वहिन, तुमने तो अच्छी तरह से सावधानी के साथ

मटकी मुझे दी, पर मुझसे थामते नही बनी और वह गिर गई।" दूसरी बोली, "नही, बहिन, तुम तो ठीक तरह थामने जा रही थी, मुझसे ही गलती हो गई और मटकी गिर गई। इसमे तो चूक मेरी है।" ऐसी परिस्थिति मे उनमें विवाद या झगड़ा हो ही नही सका।

मानस में एक सदेह का अवसर उपस्थित होता है जब रामचंद्र वन जाते है और अयोध्या का राज्य भरत को देने का प्रयास किया जाता है। यदि भरत यह कहते कि उसमे उनका दोष नही है, तो बात सत्य थी, और उन्होने बाद मे इस बात को कहा भी, लेकिन विवाद तोड़ने की बात भी उन्होने आरंभ में ही कही :

मोहि समान को पाप निवासू। जेहि लगि सीय राम बनबासू॥
रायँ राम कहुँ काननु दीन्हा। बिछुरत गमनु अमरपुर कीन्हा॥
मैं सठु सब अनरथ कर हेतू। बैठ बात सब सुनउँ सचेतू॥

इसके बाद भरत ने एक विस्तृत चर्चा की और कहा कि जो पाप अमुक-अमुक कार्य से होता है, वे पाप उन्हे ही लगे, यदि वे षड्यंत्र मे सम्मिलित हो। सुग्रीव और समुद्र ने भी इसी प्रकार अपनी उपेक्षा की भूल स्वीकार कर ली थी। सुग्रीव को सीता की खोज का कार्य आरभ करने में विलंब हुआ था और सागर ने राम की विनय को स्वीकार नही किया था। कैकेयी प्रत्यक्ष रूप से अपनी भूल स्वीकार नही करती, लेकिन उनकी ग्लानि बहुत ही मार्मिक है। रावण इतना अहंकारी था और उसमे नैतिक बल का इतना अभाव था कि वह अपनी भूल स्वीकार नही कर सकता था।

५. यह सामान्य व्यवहार का सिद्धात है कि यदि हम किसी घटना को दूसरे की दृष्टि से नही देखते, तो हमारा दृष्टिकोण पक्षपातपूर्ण या दोषपूर्ण हो जाता है। परशुराम ने धनुष-भग की घटना पर इतना शोरगुल मचाया। उन्होने यह नही सोचा कि धनुष तोड़ने की घोषणा महाराज जनक ने की थी, इसलिए उसमे राम या लक्ष्मण का कोई दोष नही था। राम ने गुरु की आज्ञा से सभा की मर्यादा के अनुसार धनुष-

भग किया था, लेकिन उनकी दृष्टि से घटना को न देखने के कारण परशुराम उपहासास्पद हुए।

रामचंद्र ने ऋषियो, मुनियो, ब्राह्मणो और देवताओ की दृष्टि से राक्षसो का सहार करने का काम अपने हाथ मे लिया। वन में जाते समय मुनियो के अस्थिपिंजर को, जिन्हे राक्षसों ने मार डाला था, देखकर रामचद्र द्रवित हो गये और उन्होने :

निसिचरहीन करौं महि भुज उठाइ पन कीन्ह।
सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि जाइ जाइ सुख दीन्ह॥

राम का जन्म ही एक महान् चुनौती को लेकर हुआ था। श्रीमद्-भगवद्गीता मे भी इस विचार का प्रतिपादन किया गया है और मानस में भी इसी बात को सक्षेप मे कहा गया है :

जब जब होइ धर्म कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी॥
तब तब धरि प्रभु मनुज सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥

हनुमान ने सीता की खोज करने मे और हिमाचल से सजीवनी बूटी लाने मे अपने बल और विवेक के अनुकूल महान् चुनौतियो को स्वीकार किया था।

: १६ :

व्यावहारिक रीति-नीति—२

मानस के सुभाषित-रत्न

रामचरितमानस जीवन के लिए मार्ग-दर्शक सूक्तियो या नीतिपूर्ण उपदेशो से भरा पडा है। यह सभव नही कि उन सबकी विस्तृत व्याख्या यहा की जा सके। परंतु उदाहरण के लिए कुछ सूक्तियो का विवेचन आवश्यक है। मानस के आरभ मे ही गुरु के महत्त्व पर सबसे अधिक बल दिया गया है। उदाहरणार्थ :

संत कहहिं अस नीति प्रभु श्रुति पुरान मुनि गाव।
होइ न बिमल बिवेक उर गुरु सन किये दुराव॥

और :

गुरु के वचन प्रतीति न जेही। सपनेहु सुगम न सुख सिधि तेही॥

पराधीनता की चर्चा मे उन्होने तत्कालीन समाज मे नारी की परवशता पर प्रकाश डालते हुए कहा है :

कत विधि सृजी नारि जग माहीं। पराधीन सपनेहुं सुख नाहीं॥

बड़े और छोटो के बीच मे स्नेह और आदर का भाव समाज की एकता के लिए आवश्यक है। इसपर गोस्वामीजी ने एक सुदर उपमा प्रस्तुत की है .

बड़े सनेह लघुन्ह पर करहीं। गिरि निज सिरन्हि सदा तृन धरहीं॥
जलधि अगाध मौलि वह फेनू। संतत धरनि धरत सिर रेनू॥

बडो की कृपा की हार्दिकता की चर्चा करते हुए उन्होने कहा है :

सांसति करि पुनि करहि पसाऊ। नाथ प्रभुन्ह कर सहज सुभाऊ॥

आदर्श व्यक्तियो के सामाजिक व्यवहार की चर्चा करते हुए उन्होने

एक सामाजिक मान्यता प्रस्तुत की है और कहा है .

जिन्ह कै लहहिं न रिपु रन पीठी। नहिं लावहिं परतिय मन दीठी॥
मंगन लहहि न जिन्ह कै नाहीं। ते नरबर थोरे जग माहीं॥

समय पर कार्य के सपन्न होने की आवश्यकता पर बल देते हुए उनका यह कथन प्रायः लोग दैनिक सामाजिक व्यवहार मे उपयोग करते है .

तृसित बारि बिनु जो तनु त्यागा। मुए करइ का सुधा तड़ागा॥

कर्मशील व्यक्ति के चरित्र और स्वभाव पर प्रकाश डालते हुए उन्होने लिखा है ·

जिमि सरिता सागर महुँ जाहीं। जद्यपि ताहि कामना नाहीं॥
तिमि सुख सपति बिनहिं बोलाएँ। धरमसील पहुँ जाहिं सुभाएँ॥

गीता मे स्थित-प्रज्ञ की परिभाषा करते हुए भी यही कहा है

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठ समुद्रमापः प्रविशंति यद्वत्।
तद्वत्कामा य प्रविशंति सर्वे स शांतिमाप्नोति न कामकामी॥

सत्य जो सामाजिक धर्म का सबसे बडा आधार है, उसपर बल देते हुए गोस्वामीजी ने निश्चित रूप से कहा है

नहिं असत्य सम पातक पुंजा। गिर सम होहिं कि कोटिक गुंजा॥
सिवि दधीचि बलि जो कछु भाखा। तनु धन तजेउ बचन पन राखा॥

राज्य के सबध मे निम्नलिखित चौपाई भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम के हर सैनिक के कठ-कठ पर पाई जाती थी .

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी॥

भाग्यवाद पर कभी-कभी तुलसीदास ने बल दिया है, जो तत्कालीन निराशापूर्ण सामाजिक सस्कृति के फलस्वरूप विकसित हुआ था :

सुनहु भरत भावी प्रबल बिलखि कहेउ मुनिनाथ।
हानि लाभ जीवन मरन जस अपजस बिधि हाथ॥
तुलसी जसि भवितव्यता तैसी मिलइ सहाय।
आपु न आवइ ताहि पै ताहि तहाँ लेइ जाय॥

लेकिन उसके साथ ही उन्होने कर्म की प्रधानता पर विशेष बल दिया है :

करम प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फल चाखा ॥

यद्यपि स्थान-स्थान पर मानस मे नारी की परवशता और उसकी सामाजिक स्थिति का वर्णन किया गया है, फिर भी अनेक स्थलो पर गोस्वामी तुलसीदास ने नारी की सबलता पर भी प्रकाश डाला है :

काह न पावक जारि सक का न समुद्र समाइ।
का न करइ अबला प्रबल केहि जग कालु न खाइ॥

मुखिया का सामाजिक गौरव बताते हुए गोस्वामीजी ने उसके कर्तव्य की ओर सकेत किया है :

मुखिया मुख सो चाहिए खान पान कहु एक।
पालइ पोषइ सकल अँग तुलसी सहित बिबेक ॥

बाधक मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों की चर्चा करते हुए गोस्वामीजी ने लिखा है :

तात तीन अति प्रबल खल काम क्रोध अरु लोभ।
मुनि बिग्यान धाम मन करहि निमिष महुँ छोभ ॥
लोभ के इच्छा दंभ बल काम के केवल नारि।
क्रोध के परुष बचन बल मुनिबर कहहिं बिचारि ॥

क्रोध मनोज लोभ मद माया। छूटहिं सकल राम की दाया ॥

काम क्रोध मद लोभ सब नाथ नरक के पंथ।
सब परिहरि रघुबीरहि भजहु भजहिं जेहि संत ॥

मानव-चरित्र की विविधता की चर्चा करते हुए उन्होने कहा है :

सुमति कुमति सबके उर रहहीं। नाथ पुरान निगम अस कहहीं ॥
जहाँ सुमति तहँ संपति नाना। जहाँ कुमति तहँ बिपति निदाना ॥

नीचे के नीति-वाक्य भले ही बहुत उदार न लगते हों, पर उनमें व्यावहारिकता का गहरा पुट है :

सठ सन बिनय कुटिल सन प्रीती। सहज कृपिन सन सुंदर नीती ॥

ममतारत सन ग्यान कहानी। अति लोभी सन बिरति बखानी॥
क्रोधिहि सम कामिहि हरि कथा। ऊसर बीज बये फल जथा॥

वाणी की मधुरता की आवश्यकता पर सभी चर्चा करते है, लेकिन कभी-कभी कठोर भी होना पडता है। गोस्वामीजी ने कहा है :

काटेहि पै कदली फरै कोटि जतन कोउ सींच।
बिनय न मान खगेस सुनु डाटेहि पै नव नीच॥

गोस्वामीजी ने लोगो को दुष्टो से दूर रहने की सलाह दी है :

कबि कोबिद गावहि असि नीती। खल सन कलह न भल नहि प्रीती॥
उदासीन नित रहिअ गोसाई। खल परिहरिअ स्वान की नाई॥

रामचद्र की विशेपता का वर्णन करते हुए उन्होने कहा है :

जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीनबंधु अति मृदुल सुभाऊ॥
सबके प्रिय सेवक यह नीती। मोर त अधिक दास पर प्रीती॥

जीवन मे सारा उत्तम प्रयत्न कर लेने के बाद मनुष्य को भगवान् या अज्ञात शक्ति की शरण मे जाना ही पडता है। गीता मे कहा गया है :

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

और मानस मे कहा गया है .

मसकहि करइ बिरंचि प्रभु अजहि मसक ते हीन।
अस बिचारि तजि संसय रामहि भजहि प्रबीन॥

इस प्रकार के अगणित सुभापित-रत्न मानस मे बिखरे पडे हैं। उनसे प्रेरणा और मार्गदर्शन प्राप्त करने के लिए मानस का अध्ययन और मनन आवश्यक है, सत्सग अनिवार्य है :

आवत यहि सर अति कठिनाई। राम कृपा बिनु आइ न जाई॥
जो नहाइ चह एहि सर भाई। सो सतसंग करौ मन लाई॥

सत्सग भारतीय समाज मे एक उच्चतम मान्यता का विपय है। यहा भक्ति, ज्ञान और कर्म को भी बडी मान्यता दी जाती है।

: १५ :

सांस्कृतिक मान्यताएं

मुक्ति

भक्ति का अर्थ है किसी कार्य, सिद्धात या व्यक्ति के प्रति भावनाशीलता, निष्ठा या विश्वास। भक्ति ही मनुष्य को विघ्न-बाधाओ मे में धैर्य और दृढता के साथ डटे रहने की शक्ति देती है और अंतिम असफलता पर भी साहस देती है और विश्वास खोने से बचाती है। भक्ति मानसिक स्वास्थ्य का सबसे सबल आधार है। गोस्वामी तुलसीदास ने भक्ति पर सबसे अधिक बल दिया है। वैसे स्थान-स्थान पर उन्होंने समन्वय का प्रयास भी किया है, परंतु इसमे कोई संदेह नही कि उनकी मूल भावना भक्ति ही रही है।

ज्ञान और भक्ति की तुलनात्मक समीक्षा करते हुए उन्होने कहा है :

भगतिहि ग्यानहि नहीं कछु भेदा। उभय हरहिं भव संभव खेदा॥
नाथ मुनीस कहहिं कछु अंतर। सावधान सोउ सुनु बिहंगवर॥
ग्यान बिराग जोग बिग्याना। ए सब पुरुष सुनहु हरिजाना॥
पुरुष प्रताप प्रबल सब भाँती। अबला अबल सहज जड़ जाती॥

मुनियो ने ज्ञान और भक्ति में थोड़ा-सा अंतर किया है। उनकी दृष्टि मे ज्ञान, वैराग्य, योग और विज्ञान, ये सब पुरुष है और माया और भक्ति स्त्रिया है। भक्ति और माया मे सामंजस्य नही हो पाता। माया अपने सारे आकर्षण, रूप और शक्ति के होते हुए भी केवल नर्तकी की सामाजिक और आध्यात्मिक स्थिति मे आती है; किंतु भक्ति भगवान् की प्रिया है, इसलिए माया उससे डरती है और भक्ति-भावनावाला व्यक्ति माया की प्रवचना से बच जाता है। गोस्वामीजी कहते है :

भगतिहि सानुकूल रघुराया। ताते तेहि डरपति अति माया ॥
राम भगति निरुपम निरुपाधी। बसइ जासु उर सदा अबाधी ॥
तेहि बिलोकि माया सकुचाई। करि न सकइ कछु निज प्रभुताई ॥
अस बिचारि जे मुनि बिग्यानी। जाचहिं भगति सकल सुख खानी ॥

इसके अतिरिक्त भक्ति के सबध मे गोस्वामीजी की यह धारणा भी है कि भक्ति-भावना प्राप्त करना अपेक्षाकृत सरल है और हर व्यक्ति के लिए सुलभ है। ज्ञान के लिए प्रखर बुद्धि और लबी साधना की आवश्यकता पडती है। इसलिए सामान्य जनता के लिए भक्ति का मार्ग ही आदर्श है। गोस्वामीजी ने कहा है:

अति दुर्लभ कैवल्य परम पद। संत पुरान निगम आगम बद ॥
राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवइ बरिआईं ॥

और उसका कारण देते हुए उन्होने कहा है:

भगति करत बिनु जतन प्रयासा। संसृति मूल अविद्या नासा ॥
भोजन करिअ तृपित हित लागी। जिमि सो असन पचव जठरागी ॥
असि हरि भगति सुगम सुखदाई। को अस मूढ़ न जाहि सोहाई ॥

भारत के परपरागत समाज मे भक्ति का विशेष महत्त्व है, क्योकि ऐसे देशो मे लोग बुद्धि की अपेक्षा भावना से अधिक काम लेते हैं।

गोस्वामीजी का यह विवेचन बहुत विस्तृत और व्यापक है। उन्होंने भक्ति के साधनो की चर्चा इस प्रकार की है:

भगति के साधन कहउँ बखानी। सुगम पंथ मोहिं पावहिं प्रानी ॥
प्रथम बिप्र चरनन्हि अति प्रीती। निज निज करम निरत श्रुति रीती ॥
यहि कर फल पुनि विषय बिरागा। तब मम चरन उपज अनुरागा ॥

ज्ञानियो के चरणो मे प्रगाढ प्रीति भक्ति का प्रथम साधन है और यही ज्ञान-मार्ग मे भी सहायक होता है। जो अपने-अपने कर्म मे लीन है और सास्कृतिक परपरा पर चलते हैं, ऐसे लोगो के प्रति श्रद्धा-भावना स्वाभाविक और लाभकर है। इसका सुखद परिणाम होता है—विषयो के प्रति विराग और उससे भगवान् के चरणो मे प्रीति। इसके बाद

गोस्वामीजी नवधा भक्ति की चर्चा करते है :

प्रथम प्रगति संतन्ह कर संगा। दूसरि रति मम [illegible] ।।
गुरु पद पंकज सेवा तीसरि भगति अमान।
चौथि भगति मम गुन गन करइ कपट तजि ग्यान ।।

संतो के चरणो मे प्रेम, भजन मे आस्था, गुरु, माता, पिता, बंधु, मुनि और देवता के रूप मे भगवान् के प्रति श्रद्धा और दंभहीनता भक्ति के साधन हैं। जो मन, वचन और कर्म से निष्काम भजन करते हैं, उन्ही के हृदय-कमल में भगवान् का निवास होता है। वे ही दैवी वृत्तिवाले होते हैं :

मंत्र जाप मम दृढ़ विस्वासा। पंचम भजन सो बेद प्रकासा ।।
छठ दम सील विरति बहु करमा। निरत निरंतर सज्जन धरमा ।।
सातवँ सम मोहि मय जग देखा। मो तें संत अधिक करि लेखा ।।
आठवँ जथा लाभ संतोषा। सपनेहुँ नहिं देखइ परदोषा ।।
नवम सरल सब सन छलहीना। मम भरोस हियँ हरष न दीना ।।

भगवान् के लिए मंत्र-जाप और भजन तो भक्ति के मार्ग है। इंद्रियों का दमन, शील-वैराग्य आदि के प्रयास भक्ति, ज्ञान और कर्म का समन्वय करते है। जो कुछ प्राप्त हो उसमे संतोष, दूसरो के दोष न देखना, सबसे सरल और छलहीन व्यवहार करना तथा भगवान् के चरणों में विश्वास भक्ति के उत्कृष्ट प्रकार है।

रामचंद्र जब शबरी से मिलने गये, तो वह उनसे मिलने के लिए अत्यंत उत्सुक थी। आदिम वासिनी या भीलिनी होने पर भी उसकी श्रद्धा प्रगाढ थी और बेर चखकर खिलाने की उसकी आतिथेयता अद्भुत थी। इसलिए रामचंद्र ने भक्ति के वर्गीकरण का अपना विस्तृत विवेचन उसीके सामने रखा। रामचद्र ने शबरी से कहा, "मैं केवल भक्ति का संबंध मानता हूं।" उनकी दृष्टि मे :

जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई। धन बल परिजन गुन चतुराई ।।
भगतिहीन नर सोहइ कैसा। बिनु जल बारिद देखउ जैसा ।।

जातीय व्यवस्था की रूढिवादिता या जातिगत उच्चता की भावना वस्तुत. भारतीय इतिहास के अंधकार-युग की देन है, नही तो मानव-मानव मे भेद क्यो होता ! राम के लिए निषाद और शवरी, जामवत और हनुमान, विभीषण और सुग्रीव बराबर थे। उन्होने वर्ण और कुल का अतर करके अपने व्यवहार कोई अतर नही किया, सबसे कृतज्ञता प्रकट की , क्योकि वह भक्तो के प्रशसक और सहायक है। शवरी से उन्होने स्पष्ट कहा :

कह रघुपति सुनु भामिनि बाता। मानउँ एक भगति कर नाता॥

नवधा भक्ति के विवेचन मे यह दिखलाया गया है कि भक्ति में कर्म भी सम्मिलित है। बिना भक्ति के कर्म नीरस होता है। सत्सग, गुरु-सेवा आदि निश्चित रूप से व्यवस्थित कर्म की प्रेरणा देते हैं।

भक्ति की इस परिभाषा और इस वर्गीकरण मे केवल भावुकता ही नही है, विचारशीलता, सयम और कर्मनिष्ठा भी है। इसलिए भक्ति का प्रचार करके गोस्वामी तुलसीदासजी ने निष्क्रिय दयावादिता का प्रचार नहीं किया था। महात्मा गाधी ने अपने जीवन मे भक्ति, ज्ञान और कर्म का समन्वय करके दिखाया। इसके पहले भी आद्य गुरु श्री शंकराचार्य ने इस समन्वय का अद्भुत उदाहरण प्रस्तुत किया था। वस्तुतः समूचे भारतीय दर्शन मे भक्ति, ज्ञान और कर्म की त्रिवेणी का विशद वर्णन है। दार्शनिक विशेषज्ञो ने अपने-अपने विचारो के अनुकूल इनमे से एक-एक का महत्त्व दिखाने का प्रयास किया है और विशेषज्ञो की प्रणाली के अनुकूल ही प्राय एक पक्ष का समर्थन दूसरे पक्षो के विरुद्ध गया है। भक्ति-मार्गी संतो ने भक्ति को प्रमुख और ज्ञान को गौण माना है। ज्ञानमार्गी दार्शनिको ने ज्ञान को सर्वश्रेष्ठ और भक्ति को निकृष्ट कहा है। कर्मयोगी नेता और विचारक प्राय भक्ति और ज्ञान दोनो पक्षो की अवहेलना करते हैं, परतु आज का युग समन्वय का युग है और इस युग की प्रवृत्ति के अनुसार इनका समन्वय आवश्यक है।

ज्ञान

जीवन की हरएक क्रिया को सफलतापूर्वक चलाने के लिए विषय-विशेष की जानकारी आवश्यक होती है। इस जानकारी में विषय के संबध मे आवश्यक सूचना और उस कार्य को करने के लिए व्यावहारिक और प्राविधिक कुशलता, दोनो ही आवश्यक हैं। कार्य मे रुचि बनाये रखने के लिए और कठिनाइयो को झेलते हुए भी उसमे लगे रहने के लिए उपयुक्त दृष्टिकोण की आवश्यकता होती है। यह दृष्टिकोण भी विषय की जानकारी और संबंधित कार्यकुशलता से बनता और प्रभावित होता है। इस प्रकार ज्ञान, व्यवहार-कौशल और दृष्टिकोण एक-दूसरे पर निर्भर हैं।

भारतीय साहित्य मे बुनाई, कताई, धातु-कला, शिल्प-कला या कृषि, पशु-पालन आदि के सबध मे किसी विस्तृत जानकारी का विवरण नही मिलता। इनपर विशेष-विशेष पुस्तके अवश्य है, पर सामान्य जनता को उनका पता नही। यह बात लोग प्राय. स्वीकार करते हैं कि प्राचीन भारत में जन-सख्या कम थी और विस्तृत भू-भाग बहुत उपजाऊ था तथा कला-कौशल का पर्याप्त विकास हुआ था। उस समय लोगो की भौतिक आवश्यकताएं प्राय. आसानी से पूरी हो जाती थी और उनके लिए विशेष परिश्रम करने की आवश्यकता नही रहती थी। इसलिए भारतीय विचारको का ध्यान अधिकतर आत्मा, परमात्मा और जीवात्मा तथा इहलोक और परलोक के सबधों पर विचार और तर्क करने मे लगा रहता था। इस प्रसंग मे ज्ञान शब्द का प्रयोग आत्मा, परमात्मा, जीवन तथा जगत् की जानकारी के प्रयास के अर्थ मे हुआ है। गोस्वामीजी ने लिखा है :

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी ॥
सो मायावस भयउ गोसाईं। बँध्यो कीर मरकट की नाईं ॥
जड चेतनहि ग्रंथि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई ॥
तब ते जीव भयउ संसारी। छूट न ग्रंथि न होइ सुखारी ॥

जड और चेतन मे माया के वश जो भेद की गांठ पड़ जाती है, उसे छोडने के विशाल रूपक मे गोस्वामीजी ने ज्ञान के तत्त्व की चर्चा की है। इस चर्चा मे भी सात्त्विकता, श्रद्धा और भक्ति की चर्चा हुई है। गोस्वामीजी से उत्तरकाड की समाप्ति के निकट एक ज्ञान-दीपक जलाया हैं, जो मानस के सबसे उच्च स्थल पर स्थापित है और सारे मानस को अपने दिव्य आलोक से प्रकाशित करता है :

सात्त्विक श्रद्धा धेनु सुहाई। जौं हरि कृपाँ हृदयँ बस आई॥
जप तप ब्रत जम नियम अपारा। जे श्रुति कह सुभ धर्म अचारा॥
तेइ तृन हरित चरै जब गाई। भाव बच्छ सिसु पाइ पेन्हाई॥
नोइ निबृत्ति पात्र बिस्वासा। निर्मल मन अहीर निज दासा॥

दीपक का यह बृहत्तम और पूर्ण रूपक घृत की मूल प्रक्रिया से, अर्थात् गोपालन से, आरभ होता है। गाय क्या है, क्या घास खाती है, आदि का विवरण दिया जाता है :

परम धर्ममय पय दुहि भाई। अवटै अनल अकाम बनाई॥
तोष मरुत तब छमाँ जुड़ावै। धृति सम जावनु देइ जमावै॥
मुदिताँ मथै बिचार मथानी। दम अधार रजु सत्य सुबानी॥
तब मथि काढि लेइ नवनीता। बिमल बिराग सुभग सुपुनीता॥

नाना प्रकार के जप, तप, व्रतो, यमो और नियमो का सेवन सात्त्विकता द्वारा किया जाता है। पवित्र भावनाओ का बल इस सात्त्विकता को उद्दीप्त करता है। वैराग्य से इन्द्रियो को वश मे किया जाता है। निर्मल मन-रूपी अहीर इस गाय की सेवा करता है। फिर इसका तत्त्व, धर्म-रूपी दूध, निकलता है, जिसे निष्कामता की धीमी-धीमी आच पर उबाला जाता है। सतोष की हवा से उस दूध को ठंडा किया जाता है। धैर्य और समता के 'जामन' से उसे जमाया जाता है। सत्य और दम का आधार लिया जाता है, और तब जो इसका तत्त्व निकलता है वह है शुद्ध वैराग्य-भावना, जिससे मोह-माया की गदगी नष्ट हो जाती है और हृदय शुद्ध और बुद्धि शीतल बनती है :

जोग अगिनि करि प्रगट तब कर्म सुभासुभ लाइ।
बुद्धि सिरावै ग्यान घृत ममता मल जरि जाइ॥
तब बिग्यान रूपिनी बुद्धि बिसद घृत पाइ।
चित्त दिआ भरि धरै दृढ़ समता दिअटि बनाइ॥
तीनि अवस्था तीनि गुन तेहि कपास तें काढ़ि।
तूल तुरीय सँवारि पुनि बाती करै सुगाढ़ि॥

इस घृत के दीप से बुद्धि को विशुद्ध करके हृदय मे समतामय प्रकाश किया जाता है और तीन अवस्था (जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति) तथा तीन गुण (सात्त्विक, राजसिक और तामसिक) की कपास से मोटी-सी बाती बनाई जाती है। इस प्रकार विज्ञान की भावना से जो दीपक जलाया जाता है, उसके पास जाते ही अभिमान के शलभ नष्ट हो जाते और उस प्रकाश मे आत्मानुभव के सहारे माया और जीवन के अन्य भ्रमो को दूर करने मे सहायता मिलती है। इस प्रकार बुद्धि के स्थिर हो जाने पर व्यक्ति माया और मोह के भ्रम को दूर कर सकता है और जीवन के तत्त्व को पूर्णत समझ सकता है। इस प्रयास मे काफी कठिनाइया होती हैं और सबसे बड़ी कठिनाई प्रलोभन और पुरस्कार की होती है। मन शीघ्र सफलता का सीधा मार्ग अपनाने को कहता है। इस प्रकार मन तरह-तरह के प्रलोभनों मे भटकता है और बुद्धि इन विघ्नो को लाघ नही पाती।

ईर्ष्यालु देवताओ को यह साधना प्रिय नही लगती और वे विषयो की वायु का तूफान लाकर परम पद की प्राप्ति मे बाधक होते है। परिणामस्वरूप जीव नाना प्रकार के कष्ट पाता है। पर कभी-न-कभी उसके दिन फिरते हैं और हरि की दुस्तर माया दूर होती है। लेकिन ज्ञान का यह मार्ग :

कहत कठिन समुझत कठिन साधन कठिन बिबेक।
होइ घुनाच्छर न्याय जौं पुनि प्रत्यूह अनेक॥

गोस्वामीजी ने 'विनयपत्रिका' मे भी ज्ञान-मार्ग के संबध मे इसी

आश्चर्य की चर्चा की है जब उन्होने भगवान् के रहस्यमय स्वरूप की चर्चा करते हुए कहा है

केसव कहि न जाइ का कहिये !
देखत तव रचना विचित्र अति समुझि मनहि मन रहिये ॥

कर्म

भारतीय दर्शन मे कर्म की जो चर्चा की गई है, वह साधारण शारीरिक क्रिया के अर्थ मे नही। उद्देश्यपूर्ण कर्म के रूप मे ही उसका महत्त्व है। सगुण और निर्गुण भक्ति की रामचरितमानस मे सबसे अधिक चर्चा की जाती है और भगवान् के चरणो मे आत्म-समर्पण कर देना सबसे महत्त्वपूर्ण माना जाता है। पर इसका अर्थ यह नही है कि मानस मे व्यावहारिक कर्म की उपेक्षा की गई है। हा, केवल यह कहा जा सकता है कि कर्म के अर्थ के सबध मे भारतीय साहित्य मे या विशेषकर भारतीय लोक-श्रुति मे थोडा भ्रम है। कर्म को कुछ लोग वर्तमान सक्रिय कर्म के रूप मे लेते है, जिसे प्राय. क्रियमाण कहा जाता है और कुछ लोग पूर्व जन्म मे किये हुए कर्म रूप मे लेते है जिसे सचित कहा जाता है। प्रारब्ध भविष्य पर प्रभाव डालनेवाले भाग्य का रूप ले लेता है। भारतीय परपरा मे कर्म सचित और प्रारब्ध के अर्थ मे ही अधिकतर लिया जाता है। क्रियमाण पर बल नही दिया जाता। भारतीय इतिहास की गत १४-१५ शताब्दियो मे परतत्र और पददलित देश के सामने क्रियमाण के लिए कोई विशेष गतिविधि नही रह गई थी। आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक और सास्कृतिक जीवन मे बहुत परवशता थी और इसलिए कर्म का मूल अर्थ प्रयोग मे बदल गया। क्रियमाण सचित और प्रारब्ध समझा जाने लगा। उदाहरण के लिए, हम नीचे लिखी चौपाई देते हैं ·

कर्म प्रधान विस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फल चाखा ॥

यहा यह स्पष्ट है कि ससार मे कर्म प्रधान है। जो जैसा करता है,

उसे वैसा ही फल मिलता है। इसमे यह नही कहा गया है कि पूर्व जन्म मे जिसने जैसा किया होता है, उसे वैसा ही फल मिलता है। लेकिन लोग प्राय. इस पद का यही अर्थ लेते है।

गोस्वामीजी ने स्पष्ट रूप से नियतिवाद की निंदा करते हुए लिखा है :

कादर मन कर एक अधारा। दैव दैव आलसी पुकारा ॥

उनका यह सिद्धात इस बात से भी प्रमाणित हो जाता है कि मानस के सभी पात्र (कुभकरण को छोडकर) सक्रिय व्यक्ति है। राम और लक्ष्मण अपनी किशोरावस्था से ही बड़े-बड़े पराक्रम करके दिखलाते हैं। उस युग में जब एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाने का मार्ग केवल पैदल था, और वह भी सुगम नही था, तब किशोरावस्था में ही अयोध्या से जनकपुरी तक जाना और वापस आना और फिर घने जंगलो को चीरते हुए लंका तक का अभियान, खर-दूषण-त्रिशिरा-बालि आदि का वध और रावण-जैसे पराक्रमी व्यक्ति को पराजित करना असाधारण कर्मठता के द्योतक है। हनुमान क्रियाशीलता और सेवा-भावना के अवतार है। वह समुद्र को लाघकर लंका पहुचे। हिमालय पर्वत के पास से धौलगिरि को उखाड़कर लंका तक ले गये और सजीवनी बूटी समय से पहुंचाकर उन्होने लक्ष्मण के प्राण बचाये। उनकी गतिशीलता और स्फूर्ति का एक बडा सुदर चित्रण गोस्वामीजी ने कवितावली में किया है :

लीन्ह्यो उखारि पहार बिसाल चल्यौ तेहि चाल बिलंब न लायौ।
मारुत नंदन मारुत कौ, मन कौ, खगराज कौ बेग लजायौ ॥
तीखी तुरा तुलसी कहतो पै हिये उपमा कौ समाउ न आयौ।
मानो प्रतच्छ परब्बत की नभ लीक लसी कपि यों धुकि धायौ ॥

लक्ष्मण ने १४ वर्ष तक 'नीद नारि भोजन परिवारा' सभी त्याग दिये। दिन मे राम के साथ चलकर और उनके लिए जल-आदि लाकर और रात्रि-काल मे वीर-आसन मे बैठकर, धनुप-वाण लेकर सीताजी और

'रामचद्र की रक्षा करना लक्ष्मण का नित्य का काम था। यह दृढ कर्मशीलता या व्यावहारिकता नही, घोर तप था। इसलिए मानस मे शुद्ध बल क्रियाशीलता के औचित्य पर विचार करने के लिए विद्वानो के प्रमाण की आवश्यकता नही। यह भी आवश्यक नही कि मानस मे विस्तृत रूप से उद्धरण प्रस्तुत किये जाय। मर्यादा-पुरुषोत्तम रामचद्र का जीवन और राम-राज्य का आदर्श इस बात के साक्षी है कि मानस मे भी निरतर निष्काम कर्म को मान्यता दी गई है। इस प्रकार का विवाद प्राय गीता के सबध मे चलता रहा है कि उसका मूल सिद्धात भक्तिवादी है, कर्मवादी है या ज्ञानवादी। लोकमान्य तिलक ने पहली बार पूरे बल के साथ कर्मयोग का सिद्धात प्रतिपादित किया। गीता के सबध मे वेदातवाद, ज्ञानवाद और भक्तिवाद के विशेष-विशेष भाष्य हुए हैं। सब लोग यह उदाहरण देते हैं कि .

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेक शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच.॥

दूसरे लोग यह कहते है कि भगवान् का भजन करनेवाले चार प्रकार के लोग है

चतुर्विधा भजते मां नराः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥

इसमे कृष्ण भगवान् ने ज्ञानी को ही सर्वश्रेष्ठ माना है। पर गीता की परिणति है अधर्म मे लगे हुए कौरवो के विनाश के लिए महाभारत-जैसे भयकर युद्ध का सचालन। और भगवान् कृष्ण ने कहा है .

अहमस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून् भुंक्ष्व राज्य समृद्धम्।
मयैवेंते निहता पूर्वमेव निमित्तमात्र भव सव्यसाचिन्॥

इस प्रकार गीता मे हम भक्ति, ज्ञान और कर्म, तीनो का चमत्कार देखते है, किंतु इसका अतिम श्लोक कर्मवाद की ही प्रेरणा देता है :

मामनुस्मर युद्ध्य च।

इसी प्रकार रामचरितमानस मे नवधा भक्ति की चर्चा की गई है और शबरी, निषाद, हनुमान आदि के चरित्र को इतना महत्त्व दिया गया है कि मानस भक्ति-प्रधान ग्रंथ मालूम होता है। उत्तरकाड के सबसे महत्त्वपूर्ण स्थल पर ज्ञान-दीपक की चर्चा करके गोस्वामीजी ने ज्ञान का गौरव दिखाया है, लेकिन कथा के सारे विस्तार का ढाचा कर्म पर आधारित है, जिसका आधार भक्ति है, और जिसके ऊचे गवाक्ष मे ज्ञान-दीपक आलोकित हो रहा है। इसलिए हम मानस के अध्ययन से इस परिणाम पर पहुचते हैं कि मानस भी कर्म-प्रधान ग्रंथ है। यहां यह भी तर्क किया जा सकता है कि विषय-विशेष की प्रधानता देखनेवाला व्यक्ति वस्तुतः अपनी ही मनोभावनाओ को प्रस्तुत करता है। रामायण और महाभारत-जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रथो में एक सार्वभौमता और साधारणीकरण है जो इन ग्रथो को युग-युग के लिए सम्मानित बना देता है। इन ग्रथो की टीकाएं और भाष्य हुए है, जिनमे द्वैत, अद्वैत, शुद्धाद्वैत, और विशिष्टाद्वैत पर बल दिया गया है। गीता की एनी बेसेंट, तिलक, अरविंद घोष, राधाकृष्णन्, महात्मा गाधी, विनोबा भावे और राजगोपालाचार्य-जैसे विभिन्न स्तर के संतों और मनीषियो द्वारा टीका हुई हैं। मानस की भी इसी प्रकार अनेक टाकाए हुई हैं। पर उनमे अधिकतर भक्ति-मार्ग पर ही बल दिया गया है। कर्म-मार्ग को समझने के लिए मानस की कथा या कथाओ के तत्त्व को समझना चाहिए। यहा कर्म की बात सिद्धांत-वाक्यो से नही, मानस के पात्रो के जीवन से प्रमाणित की गई है और इन सबका एक समन्वित रूप प्रस्तुत किया गया है। इसे हम मानस का जीवन-दर्शन कहते हैं।

: १६ :

जीवन-दर्शन

रामचरितमानस मे कर्म, ज्ञान और भक्ति का अलग-अलग वर्णन किया गया है, फिर भी उसका मुख्य उद्देश्य इन तीनो विचारधाराओ का समन्वय है, जिससे एक व्यवस्थित जीवन-दर्शन का विकास होता है। आचार्य विनोबा ने जीवन मे इस समन्वय की व्यावहारिक अनुभूति प्राप्त की है। इसका विवेचन करते हुए उन्होने अपने स्मरणीय ग्रथ 'गीता-प्रवचन' मे लिखा है·

'जीवन के मैं टुकडे नही कर सकता। कर्म, ज्ञान और भक्ति, इनको मैं जुदा-जुदा नही कर सकता, न ये जुदा हैं ही। उदाहरण के लिए, इस जेल मे रसोई बनाने के काम को ही देखिये। पाच-सात सौ मनुष्यो की रसोई बनाने का काम अपने मे से कुछ लोग करते हैं। यदि इनमे कोई ऐसा शख्स होगा जो रसोई बनाने का ज्ञान ठीक-ठीक न रखता हो, तो वह रसोई खराब कर देगा। रोटिया कच्ची रह जायगी। परतु यहा हम यह मानकर चले कि उसे रसोई बनाने का उत्तम ज्ञान है। फिर भी उस व्यक्ति के हृदय मे उस कर्म के प्रति प्रेम न हो, भक्ति का भाव न हो, 'ये रोटिया मेरे भाइयो को अर्थात् नारायण को ही मिलनेवाली है, इन्हे अच्छी तरह बेलना व सेंकना चाहिए, यह प्रभु की सेवा है,' ऐसा भाव उसके हृदय मे न हो, तो पूर्वोक्त ज्ञान होकर भी वह इस काम के लिए योग्य साबित नही होगा। इस रसोई के काम के लिए जैसे ज्ञान आवश्यक है, वैसे ही प्रेम भी। भक्ति-तत्त्व का रस जबतक हृदय में न हो, तबतक वह रसोई स्वादिष्ट नही हो सकती। इसीलिए तो बिना मा की रसोई फीकी रहती है। मा के सिवा कौन उस काम को इतनी आस्था से, प्रेम-भाव से करता है। फिर इसके लिए तपस्या

भी चाहिए। ताप सहन किये बिना, कष्ट उठाये बिना यह काम कैसे होगा ? इससे यह सिद्ध होता है कि किसी भी काम को सफल बनाने के लिए प्रेम, ज्ञान व कर्म, तीनो चीजो की जरूरत है।

जीवन के सारे कर्म इन तीन गुणो पर खडे है। तिपाई का यदि एक पाया भी टूट जाय तो वह खडी नही रह सकती। तीनो पावे चाहिए। उसके नाम मे ही उसका रूप निहित है। यही हाल जीवन का है। ज्ञान, भक्ति व कर्म (श्रम-सातत्य), ये जीवन के तीन पाव है। इन तीनों पावो पर जीवन-रूपी द्वारका खडी करनी है। ये तीन पाव मिलकर ही एक वस्तु बनती है। तिपाई का दृष्टात इसपर अक्षरशः चरितार्थ होता है। तर्क के द्वारा भले ही आप भक्ति, ज्ञान और कर्म को अलग-अलग मानिये, परतु प्रत्यक्षतः इनको अलग नही किया जा सकता। तीनो मिलकर ही एक विशाल वस्तु बनती है।

'मानस' मे यह तत्त्व कथा की मूल धारा मे पिरोया हुआ है।

जब रामचद्र, सीता और लक्ष्मण महर्षि वाल्मीकि के आश्रम मे पहुचते है तो एक बडी आश्चर्ययुक्त और महत्त्वपूर्ण चर्चा शुरू होती है। रामचद्र कहते हैं—"यह समझकर कि विद्वानो की प्रसन्नता मगल का मूल है और ब्राह्मणो (सतो और विद्वानो) के क्रोध की अग्नि मे करोडो कुल नष्ट हो जाते है, कृपया ऐसा स्थान बताइये, जहा जाकर मै सीता और लक्ष्मण के साथ सुदर कुटिया बनाकर कुछ समय तक निवास करू !" रामचद्र की यह सहज और सरल वाणी सुनकर ज्ञानी मुनि वाल्मीकि कहते है कि, "हे राम, आप मर्यादापालक है और यद्यपि आप स्वय भगवान् के अवतार है, जानकी स्वय माया-स्वरूपा हैं और लक्ष्मण शेषनाग के अवतार हैं, फिर भी मनुष्य का रूप धारण करके आप लोगो का व्यवहार सामान्य जन का-सा बन गया है।" राम के स्वरूप की दार्शनिक व्याख्या करके वाल्मीकि ने ऐसे स्थान बताना आरभ किया, जहा रामचद्र निवास करे। वे स्थान वस्तुतः विशेष-विशेष व्यक्तियो के हृदय मे बताये गए है जिनका आचरण आदर्श है और जिनसे एक

व्यापक जीवन-दर्शन की धारणा विकसित होती है। बाल्मीकि आरभ करते हैं :

बालमीकि हँसि कहहिं बहोरी। बानी मधुर अमिअ रस बोरी ॥
सुनहु राम अब कहउँ निकेता। जहाँ बसहु सिय लखन समेता ॥
जिन्ह के श्रवन समुद्र समाना। कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना ॥
भरहिं निरंतर होहिं न पूरे। तिन्ह के हिय तुम्ह कहुँ गृह रूरे ॥

पहले वह ऐसे लोगो के हृदय को राम के निवास के योग्य बताते है, जो उनके सच्चे भक्त हो और रामचद्र का गुण-गान सुनते-सुनते जिन्हे तृप्ति न होती हो, अर्थात् जो निरतर राम-चरित के सागर मे निमग्न रहते हो, जिनके नेत्र पपीहे की तरह हो और केवल भगवान् के रूप के दर्शन से तृप्त होते हो, उन्हीके हृदय में श्रीराम, सीता और लक्ष्मण निवास करें, जिनकी वाणी सदा भगवान् के गुण-गान का चयन करती रहे, जिनकी नासिका उनके चरणो मे समर्पित प्रसाद की सुगधि का आनद ले, जो भोजन और वस्त्र सबकुछ भगवान् का दिया हुआ मानकर व्यवहार करे, ऐसे लोगो के हृदय मे राम का वास हो।

यहा उपनिषदो की पवित्र परपरा का सुदर निर्वाह किया गया है

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन व्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्यास्विद्धनम् ॥

ससार मे जो कुछ भी भोजन, वस्त्र या भोग की सामग्री मिलती है, उसे ईश्वर की दी हुई समझकर उसका उपभोग करना जीवन मे शाति और सतोप का मूल बनता है, इसलिए मानस के इस सिद्धात मे भारतीय सस्कृति का एक बहुत महत्त्वपूर्ण जीवन-दर्शन मिलता है।

ज्ञानेंद्रियो की चर्चा कर लेने के बाद गोस्वामीजी ने कर्मेंद्रियो का विवेचन आरभ किया और कहा :

सीस नवहिं सुर गुरु द्विज देखी। प्रीति सहित करि बिनय बिसेषी ॥
कर नित करहिं राम पद पूजा। राम भरोस हृदयँ नहिं दूजा ॥
चरन राम तीरथ चलि जाहीं। राम बसहु तिन्ह के मन माहीं ॥

'जिनके सिर गुरु, ब्राह्मणो और देवताओं के दर्शन करके सच्चे सद्-भाव और प्रेम से तथा विशेष विनम्रता से झुक जाते है, जिनके हाथ राम के चरणो की पूजा करते है, जिनके हृदय मे भगवान् का सबसे बड़ा भरोसा है, जिनके चरण राम के तीर्थो मे चले जाते है, उन्हीके हृदय मे राम निवास करें।' कर्मेन्द्रियो के इस आदर्श की चर्चा करने के बाद गोस्वामीजी ने कर्म-काड की भी चर्चा की है, क्योकि किसी भी समाज के धार्मिक जीवन मे कर्म-काड का भी महत्त्व है, इसलिए उन्होने कहा :

मंत्रराजु नित जपहिं तुम्हारा। पूजहिं तुम्हहि सहित परिवारा ॥
तरपन होम करहिं बिधि नाना। बिप्र जेवाँइ देहिं बहु दाना ॥
तुम्ह तें अधिक गुरहिं जियँ जानी। सकल भायँ सेवहिं सनमानी ॥
सबु करि मागहिं एक फलु राम चरन रति होउ।
तिन्ह कें मन मंदिर सबहु सिय रघुनंदन दोउ ॥

'जो परिवार-सहित भगवान् का मत्र जपते हैं, उनके चरण-कमलो की पूजा करते हैं, पौराणिक विधि से यज्ञ, हवन आदि करते है और भगवान् से भी अधिक अपने गुरु का सम्मान करते हैं और सबका केवल एक ही फल मागते है कि उन्हीके हृदय मे रामजी का निवास हो !' गुरु के प्रति सम्मान की ऐसी ही भावना कबीरदास ने भी व्यक्त की है। उन्होने कहा है :

गुरु गोबिंद दोऊ खड़े काके लागूँ पायँ।
बलिहारी गुरु आपकी गोबिंद दियो बताय ॥

यहा गोस्वामीजी ने 'सकल भायँ सेवहिं सनमानी' कहकर गुरु का महत्त्व और बढा दिया है।

केवल ज्ञानेंद्रियो, कर्मेद्रियो या कर्म-काड के द्वारा सच्चे जीवन-दर्शन की प्राप्ति नही हो सकती। उनके लिए तो मानव को अपनी भावनाओ पर विजय पानी होगी। इसलिए गोस्वामीजी ने इस आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक तत्त्व की ओर भी ध्यान दिया है, क्योकि मनोवैज्ञानिक या

भावनात्मक विकास के विना सारी क्रियाए प्रदर्शन-मात्र रह जाती हैं। इसलिए उन्होंने कहा :

काम कोह मद मान न मोहा। लोभ न छोभ न राग न द्रोहा ॥
जिन्ह कें कपट दंभ नहिं माया। तिन्ह कें हृदय बसहु रघुराया ॥

'जिनके हृदय मे न काम है, न क्रोध है, न मद है, न मोह है, न क्षोभ है, न राग है, न द्वेष है, और जिनके हृदय मे छल, कपट या दभ नही है, उन्हीके हृदय मे रामचद्रजी निवास करें।'

इस आध्यात्मिक विकास की परिणति मानव का नित्य-प्रति का सामाजिक व्यवहार है। यदि यह सद्भाव समाज के दूसरे व्यक्तियो के साथ व्यवहार मे प्रकट नही होता, तो उस व्यक्ति के गुणो का व्यावहारिक अनुभव भी किसीको नही होता, इसीलिए गोस्वामीजी ने लिखा है :

सब के प्रिय सब के हितकारी। दुख सुख सरिस प्रसंसा गारी ॥
कहहिं सत्य प्रिय वचन बिचारी। जागत सोवत सरन तुम्हारी ॥
तुम्हहि छाड़ि गति दूसरि नाहीं। राम वसहु तिन्ह के मन माहीं ॥

जो सभीको प्रिय हैं, सभी का हित-चिन्तन करते है, जिनके लिए मान और अपमान बरावर है, जो निष्काम काम करते हुए केवल भगवान् का सहारा लेते हैं, उनके हृदय मे ही भगवान् का निवास होता है। सामाजिक व्यवहार का यह विस्तृत विवेचन गोस्वामीजी द्वारा वर्णित जीवन-दर्शन का सार है। यह विवरण नैतिकता और सच्ची धार्मिकता का सदेश देता है। गोस्वामीजी लिखते हैं :

जननी सम जानहिं पर नारी। धनु पराव बिष तें बिष भारी ॥
जे हरषहिं पर संपति देखी। दुखित होहिं पर विपति विसेषी ॥
जिन्हहि राम तुम्ह प्रान पिआरे। तिन्ह के मन सुभ सदन तुम्हारे ॥

इसके वाद भगवान् के साथ व्यक्ति के सवध की विशद चर्चा होती है। गोस्वामीजी सक्षेप मे निम्नलिखित श्लोक का साराश लिखते है :

त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव त्वमेव सर्वं मम देवदेव ॥

प्रभु मानव के माता-पिता, भाई-मित्र, ज्ञान, धन और सर्वस्व हैं।

जीवन-दर्शन की यह प्रक्रिया मानव-धर्म की प्रतीक है। किसी समाज, किसी सस्कृति और किसी धर्म मे इन सिद्धातो की उपेक्षा नही की जा सकती। गोस्वामीजी के शब्दो मे :

अवगुन तजि सब के गुन गहही। बिप्र धेनु हित संकट सहहीं ॥
नीति निपुन जिन्ह कइ जग लीका। घर तुम्हार तिन्ह कर मनु नीका ॥
गुन तुम्हार समुझइ निज दोसा। जेहि सब भाँति तुम्हार भरोसा ॥
राम भगत प्रिय लागहिं जेही। तेहि उर बसहु सहित बैदेही ॥

जो छिद्रान्वेषी हैं, या जो धर्म मे सम्मानित गौ-ब्राह्मण के लिए कष्ट नही सहते, उनका कल्याण नही हो सकता (यह मान्यता युग-युग मे और देश-देश मे भिन्न-भिन्न हो सकती है)। इसके विरुद्ध जो नीति-कुशल है, जो असफलता या दुःख में भगवान् की कृपा और अपना दोप समझते है, जो हर प्रकार से भगवान् पर आश्रित रहते हैं और जिन्हे भगवान् के भक्त भी प्रिय लगते है, उनके हृदय मे राम का निवास होता है।

जाति-पाति, धन और संप्रदाय, अपने वैभव और परिवार, सबका अभिमान छोडकर जो रामचंद्र के चरणो मे रत रहते है, उन्हीके हृदय मे उनका निवास होता है। जाति-पाति या परिवार पर अभिमान करने-वाले समाज के द्रोही हैं और वे भगवान् के साम्य-योग को नही समझते।

गोस्वामीजी द्वारा वर्णन किये हुए भक्त को तो स्वर्ग-नरक सब बराबर मालूम होता है। वह मन, वचन और कर्म से उनका सेवक होता है और इस सबका उसे कोई उपहार या पुरस्कार नही चाहिए। वह तो केवल भगवान् के प्रति और मानव-मात्र के प्रति श्रद्धा, करुणा और स्नेह की भावना रखता हे। उसीके हृदय में देवता का वास होता है।

इस जीवन-दर्शन मे व्यक्तिगत भक्ति-भावना, सामाजिक सेवा-साधना, सत्य और शील की व्यवहार-निष्ठा सुख-दुःख, स्वर्ग-नरक की समता का संदेश है। यही मानस का समन्वित जीवन-दर्शन है, यही गीता का स्थितप्रज्ञ-दर्शन है और यही भारतीय जनता का मानव-धर्म है।

: १७ :

मानव का रहस्य

रामचरितमानस का नामकरण गोस्वामीजी ने मान-सरोवर की दृष्टि से किया है और इस महान् ग्रन्थ के विभिन्न अगो की तुलना उन्होने एक रूपक द्वारा प्रस्तुत की है

सुमति भूमि थल हृदय अगाधू । वेद पुरान उदधि घन साधू ॥
बरषहिं राम सुजस वर वारी । मधुर मनोहर मंगलकारी ॥
लीला सगुन जो कहहिं बखानी । सोइ स्वच्छता करइ मल हानी ॥
प्रेम भगति जो बरनि न जाई । सोइ मधुरता सुसीतलताई ॥
सो जल सुकृत सालि हित होई । राम भगत जन जीवन सोई ॥

उनकी दृष्टि मे मानस की भूमि व्यक्ति की सद्बुद्धि है और हृदय उसका सागर है । वेद और पुराण तथा सज्जन लोग उसके वादल हैं, जो ज्ञान और भावना का सचय करके वर्षा के रूप मे उसे कथा द्वारा प्रचारित करते हैं । भगवान् राम के यश का ही जल इस सरोवर मे एकत्रित होता है, जो मधुर भी है, सुदर भी है और मगलकारी भी है । इस जल से सत्कार्य-रूपी धान को वहुत लाभ होता है और वही राम-भक्त के जीवन का तत्त्व है । यह जल कानो के मार्ग से हृदय तक पहुचता है । यह पवित्र है और जीवन के श्रम और उसकी व्यथा-चिंता को दूर करता है । जब भगवान् की भक्ति-भावना से हृदय स्थिर हो जाता है, तो यह जल शीतल और रुचिकर बन जाता है ।

परंतु मानस का एक और अर्थ होता है—मानसिक, मनोवैज्ञानिक या आध्यात्मिक । इस अर्थ का विस्तृत विवेचन करने से पहले गीता के एक प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक अश की चर्चा कर लेना आवश्यक है, क्योंकि वह रामचरितमानस की धार्मिक और दार्शनिक परपरा का मूल

आधार हैं :

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते ।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ।।
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ।।

आसक्ति से प्रवल कामना उत्पन्न होती है और उसकी पूर्ण संतुष्टि न होने पर मन मे क्रोध आता है । क्रोध से सत्-असत्-विवेचन की शक्ति नष्ट होती है, कर्तव्य-अकर्तव्य के सवध मे भ्रम होता है । इससे स्मरण-शक्ति का ह्रास हो जाता है । स्मरण-शक्ति नष्ट होने से बुद्धि नष्ट हो जाती है, और बुद्धि के नष्ट होने से मनुष्य नष्ट हो जाता है । इसलिए मानस और गीता मे वरावर आसक्ति के त्याग की चर्चा की गई है ।

मानस मे काम, क्रोध, मद, लोभ और मोह आदि वासनाओ को जीतने की बरावर चर्चा की गई हे । निषेधात्मक रूप से विशेप-विशेप व्यक्तियो के चरित्र से यह प्रमाणित किया गया है । विना इन मानसिक दुर्वलताओ पर विजय प्राप्त किये कोई व्यक्ति सफल नही हो सकता । महाराज दशरथ काम के वशीभूत होकर कैकेयी के कोपभवन मे जाने पर विचलित हो जाते हैं और उसकी अनुचित या उचित माग पर विचार नही करते । इसमे कोई सदेह नही कि वह अपने दिये हुए वचनो पर टिकने का प्रण करते हैं, लेकिन उनके मन में संघर्ष वरावर बना रहता है और इसलिए स्पष्ट रूप से राम को आदेश नही दे पाते । वह चाहते हैं कि उनका प्रण भी पूरा हो और राम, लक्ष्मण, सीता भी उनसे अलग न हों । वह सुमंत को आदेश देते हैं कि तुम रामचंद्र को वन दिखलाकर वापस ले आओ और विलाप करते है, मूर्च्छित होते हैं और अत मे उनके जीवन का अंत हो जाता है । मानसिक कारणो से शरीरात का यह उदाहरण मनोवैज्ञानिक शारीरिक चिकित्साशास्त्र के लिए एक अनोखा उदाहरण हैं ।

रावण क्रोध और मद के वशीभूत है । शूर्पणखा को क्षत-विक्षत

देखकर उसे दुःख होता है और इस निराशापूर्ण दुःख में उसकी वृत्ति आत्मनम हो जाती है। राम की शक्ति या सीता-हरण के सामाजिक या नैतिक औचित्य या अनौचित्य के संबंध में उसे संमोह या भ्रम हो जाता है। इसके बाद वह सीता को हरकर धोखे से ले आता है, उसे बंदिनी बना देता है। विभीषण को लात मारकर निकाल देता है, सती मंदोदरी की अवज्ञा करता है, विभीषण या माल्यवंत की सलाह को ठुकरा देता है। अंगद के परामर्श से या हनुमान के लंका-दहन से कुछ सीखता नहीं और युद्ध में धीरे-धीरे अपनी सारी शक्ति खो देता है। उसकी सारी सेना नष्ट हो जाती है और वह विनाश को प्राप्त होता है।

इसके पहले एक प्रसंग में नारद को काम-भावना पर विजय करने के कारण अभिमान हो जाता है। बाद में वह भी काम और दंभ के वश में आकर लक्ष्मी के वरण के लिए भगवान् विष्णु से उनका स्वरूप मांगते हैं और अंत में अपमानित होते हैं। उनके संकट का मूल है :

मुनि सुसीलता आपनि करनी। सुरपति सभाँ जाइ सब बरनी॥
सुनि सब कें मन अचरजु आवा। मुनिहि प्रसंसि हरिहि सिरु नावा॥
तब नारद गवने सिव पाहीं। जिता काम अहमिति मन माहीं॥
मार चरित संकरहि सुनाए। अतिप्रिय जानि महेस सिखाए॥
बार बार बिनवउँ मुनि तोही। जिमि यह कथा सुनायहु मोही॥
तिमि जनि हरिहि सुनावहु कबहूँ। चलेहुँ प्रसंग दुराएहु तबहूँ॥
संभु दीन्ह उपदेस हित नहिं नारदहि सोहान।
भरद्वाज कौतुक सुनहु हरि इच्छा बलवान॥

इस आसक्ति का परिणाम भी क्रोध होता है। जब नारद अपना वेश पानी में देखते हैं तो अपना उपहास करनेवाले जय और विजय पर रुष्ट हो जाते हैं :

बेषु बिलोकि क्रोध अति बाढा। तिन्हहि सराप दीन्ह अति गाढा॥
होहु निसाचर जाइ तुम्ह कपटी पापी दोउ।
हँसेहु हमहि सो लेहु फलु बहुरि हँसेहु मुनि कोउ॥

पुनि जल दीख रूप निज पावा। तदपि हृदयँ संतोष न आवा॥
फरकत अधर कोप मन माही। सपदि चले कमलापति पाहीं॥
देहउँ श्राप कि मरिहउँ जाई। जगत मोरि उपहास कराई॥

मानस मे लोभ का कोई विशेष उदाहरण नही मिलता, लेकिन कैकेयी का हठ अपने पुत्र के लिए राज्य प्राप्त कराने के लोभ से ही प्रेरित होता है। लोभ का अंकुर उसके हृदय में बहुत अविकसित रूप से था। मंथरा ने उसे पनपाया और फिर तो वह अयोध्या के राज्य का विनाश करके ही शात हुआ। गोस्वामीजी ने लिखा है:

होत प्रातु मुनिबेषु धरि जौं न रामु बन जाहिं।
मोर मरनु राउर अजस नृप समुझिअ मन माहिं॥
अस कहि कुटिल भई उठि ठाढ़ी। मानहुँ रोष तरंगिनि बाढ़ी॥
पाप पहार प्रगट भइ सोई। भरी क्रोध जल जाइ न जोई॥
दोउ वर कूल कठिन हठ धारा। भवँर कूबरी बचन प्रचारा॥
ढाहत भूपरूप तरु मूला। चली विपति बारिधि अनुकूला॥

सुग्रीव भी राज्य-लिप्सा का शिकार हे। वालि की पर्याप्त प्रतीक्षा किये विना वह उसका राज्य ले लेता है, फिर भी मन में वरावर डरता रहता है। रामचंद्र से परिचय होने के वाद वह वचन देता है कि सीताजी की खोज करायेगा, पर राज्य-लिप्सा में वह इस प्रण को भूल जाता है। परिणाम यह होता है कि लक्ष्मण उसे भय दिखाकर कर्त्तव्य का वोध कराते है, लेकिन उसके चरित्र की शिथिलता इतनी स्पष्ट है कि वह मानस के किसी महत्त्वपूर्ण चरित्र का स्थान नही ले पाता।

विभीषण का रावण के अपमान से रूठकर चला आना और रामचंद्र की सेना मे सम्मिलित हो जाना भक्तो की दृष्टि से अनुचित नही है और गोस्वामीजी ने इस घटना को यही रूप दिया है कि विभीषण राम का भक्त था, इसलिए वह आकर रामचंद्र से मिल गया। विनयपत्रिका मे भी इसका समर्थन किया गया है:

जाके प्रिय न राम वैदेही ।
तजिये ताहि कोटि वैरी सम जद्यपि परम सनेही ।।
तज्यो तात प्रह्लाद, विभीषण बधु, भरत महतारी ।

फिर भी विभीषण का चरित्र मामाजिक एकता की दृष्टि से प्रशसनीय नही । आज भी भारत मे शायद ही कोई हिंदू धर्मावलवी अपने परिवार मे किसीका नाम विभीषण रखता हो, क्योकि विभीषण नाम से देशद्रोही, जाति-द्रोही या कुल-द्रोही की कल्पना सामने आ जाती है । राम की भक्ति के लिए राम के पास आने का महत्त्व अवश्य है, पर रावण के द्वारा अपमानित होने पर तुरत चल देना स्थायी भक्ति-भावना के कारण नही, क्षणिक रोष के कारण मालूम होता है । और रोष या क्रोध से कर्तव्याकर्तव्य के सवध मे भ्रम होता है, बुद्धि नष्ट होती है और व्यक्तित्व का पराभव होता है । इसलिए स्थितप्रज्ञ-दर्शन मे या मानस के जीवनदर्शन-प्रसग मे समता पर और इन मानसिक वृत्तियो (काम-क्रोध आदि) के ऊपर विजय प्राप्त करने पर अधिकाधिक वल दिया गया है ।

इसके विपरीत राम और भरत, तथा कौशल्या और सुमित्रा, हनुमान और सीताजी अपने मन के इन विकारो (काम-क्रोध-मद-लोभ आदि) पर पूर्ण विजय प्राप्त करते है । राम वन जाने के समाचार से दुःखी या राज्य-तिलक के समाचार से प्रफुल्लित नही होते । उन्होने जीवन मे समता की सफल साधना कर ली है । अपने मन के विकारो पर विजय प्राप्त कर ली है, यही मानस का सच्चा रहस्य है । यदि अपने मन के विकारो पर व्यक्ति का कावू हो जाय, वह अपने मन को हानि-लाभ, सुख-दुःख, उष्णता और शीतलता तथा मान-अपमान आदि से मुक्त कर ले, तो ही उसकी सच्ची विजय है । तभी वह सच्चा सुख और स्थायी शाति मिल सकती है, जो मानव-जीवन का चरम लक्ष्य है । वही मानस का उच्चतम सदेश है ।

●